हरिदास संस्कृत सीरीज ३४७

धम्मपद

बुद्धोपदेशसंग्रह

[आचार्य बुद्धघोषकृत अट्ठकथा के आधार पर हिन्दी एवं संस्कृत भाषान्तर]



सम्पादक, सशोधक एवं अनुवादक

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री विद्यासागर

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

हरिदास संस्कृत सीरीज

३४७

*****

धम्मपद

बुद्धोपदेशसंग्रह

[आचार्य बुद्धघोष कृत अट्ठकथा के आधार पर

हिन्दी एवं संस्कृत भाषान्तर]

(बृहत्तर भूमिका सहित)

सम्पादक, संशोधक एवं अनुवादक

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

विद्यासागर

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०६२, सन् २००५
मूल्य : रु० १००-००

ISBN : 81 - 7080 - 173-7

पोस्ट बॉक्स नं० १००८
के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : २३३३४५८ (आफिस), २३३४०३२, २३३५०२० (आवास)
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
www.chowkhambaseries.com
Fax : 0542-2333458

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी
पुस्तक-प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० ११९८,
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : २३३५०२० एवं २३३३४५८ P.P.

धम्मपद

धम्मपद का शाब्दिक अर्थ : 'धम्मपद' एक संज्ञावाचक पदसमूह है। यह पालिसाहित्य में त्रिपिटक के तीन पिटकों में **सुत्तपिटक** के अन्तर्गत **खुद्दकनिकाय** के पन्द्रह (१५) ग्रन्थों में द्वितीय ग्रन्थ का नाम (संज्ञा) है। इस 'धम्मपद' में दो शब्द अन्तर्भूत हैं—एक 'धम्म' एवं दूसरा 'पद'। 'धम्म' शब्द संस्कृत भाषा के 'धर्म' शब्द का अपभ्रंश रूप है। यद्यपि बौद्ध एवं आर्ष साहित्य में 'धर्म' के अनेक अर्थ किये गये हैं, परन्तु यहाँ इसका सरल परन्तु सर्वसम्मत अर्थ 'सदाचार' (सज्जनों के पालनीय एवं नित्य करणीय कर्तव्य) ही समझना चाहिये। उधर 'पद' शब्द का शास्त्र में दो अर्थों में प्रयोग है—उनमें १. पहला अर्थ है—मार्ग; जैसे—'आकासे व पदं नत्थि' (ध०प०, गा० २५५), या 'पमादो मच्चुनो पदं' (ध०प०, गा० २१)। अत: इस प्रमाण के आधार पर, 'पद' का अर्थ यहाँ 'मार्ग' माना जाय तो 'धम्मपद' का अर्थ होगा—**धर्म का मार्ग**। २. परन्तु इसी ग्रन्थ में 'पद' शब्द एक अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। वह अर्थ है—किसी का वचन या वाणी। जैसे यहाँ (इसी ग्रन्थ में) एक गाथा पढने को मिलती है—'को धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिवप्पचेस्सति' (ध०प०, गा० ४४), यहाँ 'धम्मपद' का स्पष्ट एवं सुगम अर्थ है—धर्मसम्पृक्तवचन, या धर्मसम्पृक्त वाणी। इस धम्मपद ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के सदाचारसम्बन्धी उपदेश—वचन या वाणी सर्वत्र उद्धृत हैं अत: इसका '**धर्मवचन**' या '**धर्मवाणी**'— यह अर्थ भी उचित ही लगता है।

धम्मपद का प्रतिपाद्य विषय :

भगवान् बुद्ध के धर्मसम्बद्ध तथा सदाचारसम्बद्ध वचन ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य (वर्णनीय) विषय है। इसमें कथित प्रत्येक गाथा भगवान् बुद्ध ने किसी जिज्ञासु साधक भिक्षु या उपासक या श्रोता को, उसके ऐकान्तिक हित को ध्यान में रखकर ही कही है। इस ग्रन्थ में सभी गाथाएँ बुद्धप्रोक्त हैं, किसी अन्य द्वारा प्रोक्त नहीं है।

धम्मपद का रचनाकाल :

यों तो यह साधारण सी बात है कि जब यह ग्रन्थ बुद्धप्रोक्त है, तब भगवान् बुद्ध का जीवनकाल ही इस ग्रन्थ का भी मान्य रचनाकाल माना जाय; परन्तु ऐसे विचार विमर्श के पीछे एक अन्य सत्य भी छिपा हुआ है, जिसके कारण विद्वानों को इस विषय पर गम्भीरता से विचार करना पड़ा है। बात यह है कि भगवान् बुद्ध के समय इस देश में लेखनकला के प्रति उपेक्षाभाव अधिक था, उसका ज्ञान होते हुए भी लोग उसका अधिक उपयोग नहीं करते थे, अपि तु उनका किसी भी वचन को कण्ठस्थ करने पर ही अधिक बल रहता था। इसलिये उस समय बौद्धों में भी यही परम्परा थी कि भगवान् बुद्ध जो कुछ भी उपदेश करते थे उसको उनके सम्मुख बैठे भिक्षु, आनन्द आदि शिष्य, भगवान् बुद्ध के श्रीमुख से निकलते ही,

कण्ठस्थ कर लेते थे। तथा समय समय पर उसका पुनः पुनः अभ्यास करते रहते थे, इस कारण उसके विस्मरण या विलुप्त होने का भय नहीं रह जाता था। इसीलिये भगवान् बुद्ध के समय तक आर्यावर्त में समग्र वैदिक साहित्य, समग्र संस्कृत साहित्य, समस्त बौद्ध एवं जैन साहित्य भी स्मृतिपरम्परा से ही सुरक्षित था। उस समय के ऋषि, महर्षि एवं श्रमण (सन्त) 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' की पुण्यपाठ की परम्परा को मानने वाले तथा अपने धर्म एवं गुरु के प्रति श्रद्धालु और विश्वासी थे, अतः उनसे पाठ में प्रमाद की कल्पना करना कठिन ही है; परन्तु मानव-स्वभाव विस्मरणशील रहा है, यह देखते हुए पाश्चात्त्य विद्वानों ने यह 'रचना वाला' प्रश्न उठाया। उनका भी इस प्रश्न में 'धम्मपद भगवान् बुद्ध द्वारा प्रोक्त नहीं है'—ऐसा विचार नहीं है, अपि तु वे कहना चाहते हैं—क्या भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा वही सब कुछ वर्तमान में उपलब्ध धम्मपद में है? या उसमें से, भिक्षुओं के स्मृतिप्रमाद के कारण कुछ निकल गया, तथा कुछ अपनी तरफ से उन्होंने मिला दिया? अतः वे विचार करते हैं कि वर्तमान में उपलब्ध यह धम्मपद कब से इस रूप में है? भगवान् बुद्ध के समय से ही? या बाद में इसके रूप में परिवर्तन परिवर्द्धन होते गये? ऐसा विचार करना कुछ अनुचित भी नहीं है।

१. प्रो० मैक्समूलर का मत —

आरम्भ में त्रिपिटक ही नहीं, सभी बौद्धग्रन्थ मौखिक परम्परा में ही उपलब्ध थे। बहुत समय (चार शताब्दियों के) बाद सिंहलद्वीप के सम्राट् वट्टगामणि अभय के शासनकाल में, उनके आदेश से, त्रिपिटक के सभी ग्रन्थ लिपिबद्ध हुए। सिंहलद्वीप में (पाँचवीं शताब्दी में) रचित **महावंस** ग्रन्थ में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। सिंहलद्वीप के इस सम्राट् का शासनकाल ८८ से ७६ ईसापूर्व माना गया है।

२. दूसरा मत—

त्रिपिटक के सभी ग्रन्थों का सङ्कलन भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तत्काल बाद राजगृह में आयोजित भिक्षुओं की प्रथम महासङ्गीति में ही कर लिया गया था। इस मत का वर्णन भी **चुल्लवग्ग** (विनयपिटक के खन्धक भाग का द्वितीय ग्रन्थ) में विस्तार से उपलब्ध है। वे (द्वितीय मतानुयायी) कहते हैं—द्वितीय (कालाशोक के समय सम्पन्न) एवं तृतीय (सम्राट् अशोक के समय सम्पन्न) महासङ्गीतियों में उक्त सङ्कलन को केवल पूर्णता ही प्रदान की गयी।

उक्त दोनों मतों के निष्कर्ष रूप में यही बात सिद्ध होती है कि समग्र त्रिपिटक का सङ्कलन ४७७ ईसापूर्व वर्ष में ही हो गया, भले ही वह मौखिक पद्धति से क्यों न हुआ हो। आगे चलकर (चार शताब्दी बाद) वट्टगामणि अभय के आदेश से (चतुर्थ सङ्गीति के माध्यम से) उसी को लिपिबद्ध रूप प्रदान किया गया। संक्षेप में, यह माना जा सकता है कि इस

धम्मपद का (४२३ गाथावाला) यह रूप ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से आज २००० ईस्वी तक समान रूप से उपलब्ध है।

अवान्तर साक्ष्य : परन्तु यह इक्कीस सौ वर्ष का कार्यकाल बहुत लम्बा है। इसको प्रमाणित करने के लिये बौद्ध साहित्य के तत्कालीन प्रामाणिक ग्रन्थों का साक्ष्य भी मिलना चाहिये। वह साक्ष्य इस प्रकार है—

१. बौद्ध साहित्य में **मिलिन्दपञ्हपालि** एक प्राचीनतम एवं सुविख्यात ग्रन्थ है। इसकी रचना ईसा की प्रथम शताब्दी में मानी जाती है। इसमें अनेक स्थानों पर धम्मपद ग्रन्थ का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।

२. **सुत्तनिपात** के अट्ठकवग्ग अंश पर **महानिद्देस** तथा पारायणवग्ग अंश पर **चुल्लनिद्देस** दो **व्याख्याग्रन्थ** त्रिपिटक खुद्दकनिकाय में संगृहीत है। इन दोनों ही व्याख्याग्रन्थों में ऐसे वाक्यांश उपलब्ध हैं जो केवल धम्मपद में ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रमाण के आधार पर भी धर्मपद की इतने दीर्घकाल की एकरूपता सिद्ध की जा सकती है।

३. बौद्धपरम्परा ऐसा मानती है कि **सम्राट् अशोक** ने धम्मपद का अप्रमादवर्ग (द्वितीयवर्ग) का विद्वान् भिक्षुओं के श्रीमुख से साक्षाद् उद्ग्रहण किया था। यह तभी सम्भव है जब सम्राट् की उत्पत्ति से पूर्व ही धम्मपद का प्रचार प्रसार रहा हो। जब कि इस सम्राट् का शासनकाल ईसापूर्व तृतीय शताब्दी माना जाता है। इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि वह धम्मपद ईसापूर्व तृतीय शताब्दी से पहले भी अपने इसी रूप में उपलब्ध रहा।

धम्मपद के रचनाकार :

धम्मपद के रचयिता भगवान् बुद्ध ही है—यही बौद्ध परम्परा की मान्यता है। आचार्य बुद्धघोष **धम्मपदट्ठकथा** के आरम्भ में अनुबन्धचतुष्टय के साथ धम्मपद के रचयिता के विषय में लिखते हैं—

''तं तं कारणमागम्म, धम्माधम्मेसु कोविदो।
सम्पत्तसद्धम्मपदो, **सत्था धम्मपदं सुभं**॥
देसेसि, करुणावेग-समुस्साहितमानसो।
यं वे देवमनुस्सानं पीतिपामोज्जवड्ढनं॥'' (ध०प०अ०, मङ्गलगाथा)

इससे सिद्ध होता है कि बौद्धपरम्परा की विद्वन्मण्डली भगवान् बुद्ध को ही धम्मपद का रचयिता मानती है।

धम्मपद किस ग्रन्थसमूह का अङ्ग है?

बौद्ध परम्परा में तीन ग्रन्थसमूह मान्य हैं—विनयपिटक, सुत्तपिटक एवं अभिधम्म-पिटक। इनमें पाँच सुत्तपिटक के ग्रन्थ हैं—१. दीघनिकाय, २. मज्झिमनिकाय, ३. संयुत्त-

निकाय, ४. अङ्गुत्तरनिकाय एवं ५. खुद्दकनिकाय। इस अन्तिम **खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत** छोटे बड़े १५ ग्रन्थ परिगणित हैं। इनमें **द्वितीय ग्रन्थ धम्मपद** माना गया है।

भगवान् ने धम्मपद की देशना गद्य में की थी, या पद्य में ?

यहाँ कुछ तथाकथित विद्वानों की मान्यता है कि भगवान् ने धम्मपद की सभी गाथाओं का उपदेश प्रथमत: गद्य के मूल रूप में ही दिया था, परन्तु कण्ठस्थकारी भिक्षुओं ने अपनी स्मृति की सुविधा के लिये उस गद्य को पद्य रूप देकर उसे पद्य (गाथा) रूप में ही कण्ठस्थ कर लिया! कैसी अविवेकपूर्ण बात है! क्या यही स्मृति की सुविधा वाली बात भगवान् बुद्ध जिज्ञासुओं के लिये उपयुक्त नहीं समझते थे। फिर समग्र त्रिपिटक प्रमाण है कि आनन्द जैसे श्रद्धालु भिक्षुओं ने भगवान् के मत के विरुद्ध एक भी अक्षर या शब्द कहने का साहस नहीं किया! जो भिक्षु बार बार यही कहते थे—"भगवम्मूलका नो भन्ते! धम्मा, भगवन्नेत्तिका, भगवम्पटिसरणा.... भगवतो सुत्वा भिक्खू धारेस्सन्ति", उनके विषय में यह कल्पना करना कि भिक्षुओं ने भगवदुक्त गद्य को पद्य में परिवर्तित कर लिया होगा—यह अपनी बुद्धि का दिवालियापन दिखाने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ऐसे ये तथाकथित विद्वान् भारतीय गुरुशिष्य-परम्परा के उच्चतम आदर्श को हृदयङ्गम ही नहीं कर पाये। आज भी भारत में कोई शिष्य अपने गुरु द्वारा कथित वचनों में परिवर्तन करने का दुष्कृत नहीं कर सकता!

अथ च, क्या भगवान् स्वयं इस 'स्मृति की सुविधा' वाली बात को नहीं जानते थे कि यह संक्षिप्त उपदेश स्मृतिसुविधार्थ गद्य की अपेक्षा पद्य में करना—जिज्ञासु एवं कण्ठस्थकारी भिक्षु—दोनों के लिये सुविधाजनक होगा! फिर वे गद्य में उपदेश कर कण्ठस्थकारी भिक्षुओं के लिये उसे पद्य में परिवर्तन करने का कार्य क्यों छोड़ते!

या फिर क्या भगवान् पद्य में बोलना नहीं जानते थे कि आनन्द आदि भिक्षुओं को यह कष्ट उठाना पड़ा। इस कल्पना से परम्परा में ऐसी उच्छृङ्खलता फैल जायगी कि किसी के रोकने से भी नहीं रुकेगी! और सुत्तनिपात एवं संयुत्तनिकाय आदि ग्रन्थों में पठित हजारों गाथाओं के विषय में भी यही कल्पना होने लगेगी। अत: शास्त्ररक्षार्थ एवं परम्परारक्षार्थ ऐसी आधारहीन कल्पनाओं पर विचार करना सर्वथा अनुचित है।

धम्मपद की वर्णनपद्धति

१. वर्ग : धम्मपद के वर्ण्यविषय को संग्रहकारों ने यमकवर्ग, अप्रमादवर्ग आदि वर्गभेद से २६ वर्गों में विभक्त किया है, जिनकी सूची आगे (यथास्थान) देखी जा सकती है।

२. गाथाएँ : वर्गभेद से विभाजित कर ४२३ गाथाएँ इस ग्रन्थ में वर्णित हैं, जिनका उपदेश भगवान् ने जिज्ञासुओं को समय समय पर दिया था।

धम्मपद की बुद्धघोषरचित अट्ठकथा—इन सभी ४२३ गाथाओं की व्याख्या आचार्य बुद्धघोष ने स्वरचित **धम्मपदट्ठकथा** में सिंहल देश में भारत से गयी प्राचीन अट्ठकथाओं के आधार पर पालिभाषा में आज से १६०० वर्ष पूर्व की थी। हर्ष का विषय है कि यह धम्मपदट्ठकथा—सरल हिन्दीअनुवाद के साथ—आज भारत में भी प्रकाशित हो चुकी है। अनुसन्धाताओं एवं जिज्ञासुओं के लिये यह अवश्य पठनीय है।

भगवान् बुद्ध ने जिस स्थान पर, जिस उपदेश्य पुद्गल को, जिसके सम्बन्ध, जिस स्थिति में, जिस गाथा का उपदेश किया था—यह सब कुछ इस धम्मपदट्ठकथा में आचार्य ने क्रमशः विस्तारपूर्वक लिखा है, जिससे पाठकों का एतद्विषयक सर्वविध सन्देह निवृत्त हो जाता है। साथ ही प्रत्येक गाथा की प्रासङ्गिक अवतरणकथा भी लिख दी हैं। ये अवतरण कथाएँ सङ्ख्या में ३०५ हैं।

धम्मपद से सम्बद्ध उपदेश-स्थल

भगवान् बुद्ध ने इस धम्मपद में कथित सभी उपदेश किसी एक स्थान पर या किसी एक ही समय में नहीं किये थे; क्योंकि वे बोधिप्राप्त्यनन्तर किसी एक स्थान पर किसी निश्चित समय तक नहीं विराजे। अतः उनके उपदेशस्थल भी भिन्न भिन्न रहे हैं। इन उपदेशस्थलों के ज्ञान का पाठक को यह लाभ होगा कि वह धर्मपदोक्त गाथाओं का स्थूल रूप से समय-निर्धारण करना चाहेगा तो कर सकेगा। सभी गाथाओं का उपदेशस्थल आचार्य बुद्धघोष ने अपनी धम्मपदट्ठकथा में क्रमशः लिख दिया है। उस लेख पर सन्देह का कोई कारण नहीं है; क्योंकि आचार्य ने यह सब परम्परा को भली भाँति सुन समझ कर ही लिखा है; जबकि आचार्य के समय तक उक्त भिक्षुपरम्परा दृढतया व्यवस्थित थी।

भगवान् बुद्ध ने उक्त सभी गाथाएँ अपने शिष्यों को, उपासकों को, अन्य सम्प्रदाय के तीर्थिकों को, या साधारण जनता को यथासमय जिन स्थलों पर दी है उनमें सर्वप्रथम स्थान श्रावस्ती के जेतवन महाविहार का आता है, क्योंकि भगवान् अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में जेतवन में ही रहने लग गये थे। वे इस काल में वृद्धावस्था के कारण चारिका भी कम ही करते थे। अन्तिम २५ वर्षावास भी उन्होंने श्रावस्ती-जेतवन में ही पूर्ण किये थे। अतः इस काल में जिज्ञासुजन जेतवन में ही आ जाते थे, वहीं उन्हें भगवान् यथानुकूल उपदेश करते थे। श्रावस्ती के बाद राजगृह के वेणुवन का नाम आता है, भगवान् बोधिप्राप्त्यनन्तर एक लम्बे समय तक, केन्द्रबिन्दु के रूप में, वहाँ समय समय पर साधनाहेतु विराजमान रहते थे। अतः यह वेणुवन भी धम्मपद की बहुत गाथाओं का उपदेशस्थल रहा है। इन दो स्थानों के अतिरिक्त श्रावस्ती के पूर्वाराम, वैशाली के महावन की कूटागारशाला, कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम, कोशलदेश, आळवी, वेणुग्राम, हिमवन्त प्रदेश की अरण्यकुटी, या सुंसुमारगिरि के भेसकळावन के नाम भी उपदेशस्थल के रूप में परिगणित हैं। इन सबका विस्तार पाठकों को इसी ग्रन्थ में

उल्लिखित गाथाओं के शीर्षकों में पढ़ने को मिल सकता है। हमने ये शीर्षक बौद्ध परम्परा (आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथा) के अनुसार लगाये हैं, अतः इनमें शङ्का या सन्देह की कोई सम्भावना नहीं करनी चाहिये।

धम्मपद-गाथाओं से सम्बद्ध कथास्थल—वास्तविकता यह है कि इस धम्मपद ग्रन्थ की गाथाएँ पठनमात्र से पाठक उसकी गम्भीरता नहीं समझ पायेंगे, जब तक कि वे उस गाथा का प्रसङ्ग, स्थान या उपदेश्य पुद्गल के विषय में न जान लें। एतदर्थ हमने भी प्रत्येक गाथा के आरम्भ में शीर्षक के अन्तर्गत उक्त गाथा के प्रसङ्ग, स्थान तथा उपदेश्य पुद्गल का नाम-सङ्केत कर दिया है, परन्तु इतने से प्रत्येक पाठक की जिज्ञासा या उत्सुकता शान्त हो जायगी, ऐसा हम नहीं मानते। इसके लिये वैसे पाठक को आचार्यश्री की अट्ठकथा का आश्रयण लेना ही होगा; क्योंकि वहाँ गाथा के सम्बन्ध में उक्त सभी बातें विस्तार से वर्णित हैं। साथ ही गाथाओं की आचार्य द्वारा की गयी विस्तृत व्याख्या भी उपलब्ध है। धम्मपद के गम्भीर अध्ययन के लिये अट्ठकथा को भी प्रत्यक्षतः पढ़ना अत्यावश्यक है—ऐसा हमारा मानना है। अस्तु।

धम्मपद का प्रतिपाद्य विषय

धम्मपद में वर्णित विषयवस्तु—विद्वज्जन बौद्धधर्म को आचारप्रधान धर्म मानते हैं। इस धर्म में नैतिक सदाचार को, जिसे यहाँ 'शील' कहा गया है, विशेष महत्त्व दिया गया। अतः इस धम्मपद ग्रन्थ में भी नैतिक सदाचार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। तथा उन सभी बातों का यहाँ वर्णन मिलता है जो इस सदाचार की वृद्धि में सहायक हैं, या जिनके अनुसार चलने से मनुष्य अपने जीवन के प्रधान लक्ष्य—स्वदुःखविनाश प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

इसके साथ साथ इस ग्रन्थ में बौद्ध धर्म की अन्य विशेषताओं का वर्णन भी यथास्थान उपलब्ध होता है; जैसे—मनुष्य का जीवन नैराश्यमय है, समस्त संसार दुःखों से परिप्लुत है, दुःख क्यों होते हैं? इन दुःखों से मुक्त होने का क्या उपाय है? दुःखों से मुक्त होने की स्थिति क्या है? उस स्थिति का नाम क्या है?—आदि बातों का वर्णन भी यथास्थान इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। इसमें एक स्थान पर कहा गया है—

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेसथ!॥ (गाथा सं० १४६)

इस दुःख एवं अन्धकार को दूर करने के लिये बौद्ध धर्मदर्शन ने स्वसिद्धान्त ख्यापित किये हैं। धम्मपद में भी इनका वर्णन या संकेत यथाप्रसङ्ग मिलता है।

बौद्धधर्म की यह मान्यता है कि मानव जीवन नैराश्यमय है। इसमें हर्ष या आनन्द एवं उल्लास की अल्पमात्र भी सम्भावना नहीं है। मानव शरीर धारण करना ही दुःख को आमन्त्रण देना है। धम्मपद में कहा है—

"नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा, नत्थि सन्ति परं सुखं"॥

(ध०प०, गा० २०२)

पुनश्च एक स्थान पर शरीर के विषय में यह भी लिखा है—

"परिजिण्णमिदं रूपं, रोगनिड्डं पभङ्गुरं।
भिज्जति पूतिसन्देहो, मरणन्तं हि जीवितं"॥ (ध०प०, गा० १४८)

शरीर का यही वर्णन आगे भी मिलता है—

"अट्ठीनं नगरं कतं, मंसलोहितलेपनं।
यत्थ जरा च मच्चु च, मानो मक्खो च ओहितो"॥

(ध०प०, गा० १५०)

'पुनः पुनः जन्म दुःखद है'—इस पर भगवान् कहते हैं—

"अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं"॥

(ध०प०, गा० १५३)

भगवान् ने सांसारिक प्रीति, स्नेह, आसक्ति, कामना, तृष्णा—सभी को दुःखपूर्ण बताया है। (द्र०—२१३ से २१६ तक की गाथाएँ)

यहाँ (धम्मपद में) असदाचारी की दुर्गति भी विस्तृत रूप से वर्णित है। जैसे जल की एक एक बूँद से भी समय आने पर कोई घट भर जाता है; उसी तरह अल्प पाप भी एक दिन विशाल राशि में परिणित हो जाता है—

"माप्पमञ्ञेथ पापस्स 'न मं तं आगमिस्सति'!
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
बालो पूरति पापस्स, थोकथोकं पि आचिनं"॥

(ध०प०, गा० १२१)

ऐसे नैराश्यमय एवं दुःखपूर्ण जीवन के निराकरणहेतु बौद्धधर्म चार आर्यसत्यों की साधना ही एकमात्र मार्ग बताता है—

"दुक्खं दुक्खसमुप्पादं, दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं, दुक्खूपसमगामिनं॥
एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति"॥

(ध०प०, गा० १९१-१९२)

बौद्ध धर्म का ध्येय है—दुःखों की सदा के लिये शान्ति। इसी अवस्था को यहाँ

'निर्वाण' कहा गया है। भगवान् निर्वाण को ही परम सुख सिद्ध करते हैं। उनका उपदेश है—

"जिघच्छापरमा रोगा, सङ्खारपरमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं, निब्बानं परमं सुखं"॥

(ध०प०, गा० २०३)

इसी निर्वाण को बौद्ध दर्शन में **योगक्षेम** भी कहा जाता है; जैसे—

"ते झायिनो साततिका, निच्चं दळ्हपरक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बानं, योगक्खेमं अनुत्तरं"॥

(ध०प०, गा० २३)

मन ही मनुष्य के सभी दुःखों का कारण है—प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ मन से ही आरब्ध होती हैं। यदि मन अशुभ चिन्तक है तो मनुष्य का आचरण पापमय होगा। और उस आचरण का परिणाम दुःखमय ही होगा। इसीलिये धम्मपद कहता है—

"मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं"॥

(ध०प०, गा० १)

चित्त का कठिनता से दमन हो पाता है—

"दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थकामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं"॥

(ध०प०, गा० ३५)

तृष्णाग्रस्त पुरुष बन्धे खरगोश के समान संसार में चक्र लगाता रहता है—

तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो व बाधितो।

कहने का तात्पर्य यह है कि मन के असंयत होने पर मनुष्य में तृष्णा आदि की वृद्धि होती है, इसीलिये मनुष्य दुःखग्रस्त होता रहता है। (द्र०-गाथा-२१२ से २१६)

दुःखनिरोध का उपाय : अष्टाङ्गिक मार्ग—इस समस्त सांसारिक दुःख से मुक्ति का उपाय भगवान् ने अष्टाङ्गिक मार्ग ही बताया है—

"मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो, सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं, द्विपदानं च चक्खुमा"॥

(ध०प०, गा० २७३)

बौद्धों के मत में **अष्टाङ्गिक मार्ग** यह है—१. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक्सङ्कल्प, ३. सम्यग्वचन, ४. सम्यक्कर्मान्त, ५. सम्यगाजीव, ६. सम्यग्व्यायाम, ७. सम्यक्स्मृति, एवं

८. सम्यक्समाधि। इन आठ नियमों के पालन से अवश्य ही मनुष्य का दुःखक्षय हो जायगा।

धम्मपद के उपदेशों का निष्कर्ष

१. सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध का सर्वोत्कृष्ट उपदेश संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिये—

सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदापनं, एतं बुद्धान सासनं॥ (ध०प०, गा०१८३)

२. तृष्णा ही सब दुःखों का कारण है, अतः तृष्णा एवं लोभ का क्षय करना चाहिये—

तण्हाक्खयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको॥ (ध०प०, गा० १८७)

३. मनुष्य को प्रमाद नहीं करना चाहिये—

सञ्ञतस्स च धम्मजीविनो,अप्पमत्तस्स यसो'भिवड्ढति।
(ध०प०, गा० २४, २६ एवं २७)

४. काय, वाक् एवं मन से क्रोध का त्याग करना चाहिये—

''कायप्पकोपं रक्खेय्य, कायेन संवुतो सिया...
वचीपकोपं रक्खेय्य, वाचाय संवुतो सिया...
मनोपकोपं रक्खेय्य, मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे''॥
(ध०प०, गा० २३१-२३३)

५. कठोर वचन नहीं बोलना चाहिये—

''मा वोच फरुसं कञ्चि, वुत्ता पटिवदेय्यु तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा, पटिदण्डा कुसेय्यु तं''॥
(ध०प०, गा० १३३)

६. दूसरे के दोष नहीं देखने चाहिये—

''न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं।
अत्तनो व अवेक्खेय्य, कतानि अकतानि च''॥
(ध०प०, गा० ५०)

७. सज्जनों का अपकार न करे—

''यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति, सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति पापं, सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो''॥
(ध०प०, गा० १२५)

८. साधक अपनी इन्द्रियों को संयत रखे—

''यस्सिन्द्रियानि समथङ्गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।

पहीनमानस्स अनासवस्स, देवा पि तस्स पिहयन्ति तादिनो"॥

(ध०प०, गा० ९४)

९. साधक राग, द्वेष, मान एवं दम्भ से दूर रहे—

"यस्स रागो च दोसो च, मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं"॥

(ध०प०, गा० ४०७)

१०. साधक मनुष्य को सदैव धैर्यवान्, कर्मठ, व्रती एवं मेधावी होना चाहिये—

"धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च, धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथं व चन्दिमा"॥

(ध०प०, गा० २०८)

११. वृद्धजनों के सम्मुख नतमस्तक रहने से साधक के चार गुणों में वृद्धि होती है—

"अभिवादनसीलिस्स, निच्चं वुड्ढापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं"॥

(ध०प०, गा० १०९)

१२. मनुष्य स्वावलम्बी बने—

"अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं॥

(ध०प०, गा० १६०)

१३. मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है, वह आत्मसंयमी बने—

"अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा संयमयत्तानं, अस्सं भद्रं व वाणिजो"॥

१४. साधक मिथ्या मार्ग का अवलम्बन न करे—

"हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य, न सिया लोकवड्ढनो"॥

(ध०प०, गा० १६७)

१५. 'संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं'—यह भावना रखे—

"'सब्बे सङ्खारा अनिच्चा' ति, यदा पञ्ञाय पस्सति। ...
'सब्बे सङ्खारा दुक्खा' ति, यदा पञ्ञाय पस्सति। ...
'सब्बे धम्मा अनत्ता' ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया"॥

(ध०प०, गा० २७७-२७९)

१६. मनुष्य सदा रत्नत्रय की शरण में रहे—

"यो च बुद्धं च धम्मं च सङ्घं च सरणङ्गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि, सम्मप्पञ्ञाय पस्सति"॥

(ध०प०, गा० १९०)

१७. निर्वाणप्राप्ति में ईश्वरभक्ति अपेक्षित नहीं—

"अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं"॥

(ध०प०, गा० १६०)

१८. निर्वाणप्राप्त साधक का माहात्म्य—

"मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो"॥

(ध०प०, गा० २९४)

"गम्भीरपञ्ञं मेधाविं, मग्गामग्गस्स कोविदं।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(ध०प०, गा० ४०३)

"चन्दं व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(ध०प०, गा० ४१३)

"यो इमं पलिपथं दुग्गं, संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारङ्गतो झायी, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(ध०प०, गा० ४१४)

"पुब्बेनिवासं यो वेदि, सग्गापायं च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं"॥

(ध०प०, गा० ४२३)

इत्यादि।

बौद्धों में धम्मपद की अत्युत्कृष्ट मान्यता

यद्यपि कहने के लिये तो संग्रहकारों ने आकार की दृष्टि से धम्मपद का संग्रह खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत लघु ग्रन्थों में किया है, परन्तु (आकारदृष्ट्या छोटा होने पर भी) प्रत्येक बौद्ध के हृदय में इसके प्रति अत्यधिक पूजनीय भाव है; क्योंकि इसमें बौद्ध धर्म के सभी सिद्धान्तों का समावेश मिलता है। चार आर्यसत्य एवं आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के साथ साथ विविध सदाचारों के पालन का भी दृढता से भगवान् का आदेश है। इसका समीचनतया

अध्ययन करने पर हम बौद्ध धर्म की समस्त रूपरेखा हृदयङ्गम कर सकते हैं। साथ ही इसमें वर्णित सदाचारविधि के पालन से साधक अगणित सांसारिक दुःखों से छुटकारा पा सकते हैं। कोई नहीं कह सकता कि इसके निरन्तर पाठमात्र से दुःखसन्तप्त कितने मानवों का उद्धार हो चुका है! तथा यह आज भी ऐसे लोगों का उद्धार करने में समर्थ है।

हमारा यह दृढ विश्वास है कि इस लघु ग्रन्थ के प्रतिदिन श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से मानव मात्र का कल्याण अवश्य हो सकता है। वर्तमान भौतिकवादी काल में तो भगवान् के ये बहुजनकल्याणकारी वचन प्रत्येक पुरुष के लिये, (भले ही वह पुरुष किसी भी देश का वासी हो, किसी भी जाति का हो, किसी भी आयु का हो, सभी के लिये) अधिक से अधिक कल्याणकर हो सकते हैं। आज से प्रायः २२०० वर्ष पूर्व सम्राट् अशोक ने इस ग्रन्थ के केवल प्रारम्भिक अंश का ही विद्वानों से श्रद्धापूर्वक श्रवण किया था, उसी पर आचरण के प्रभाव-प्रताप से अपने समय में उसने इतने लोकोपकारी कार्य किये एवं आदर्श शासन किया कि उसका नाम इतिहास के पृष्ठों पर आज भी स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है। इसमें एकमात्र यही कारण प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्ध ने इस ग्रन्थ में दुःखी मानव के कल्याणहेतु सरलतम साधना-पद्धतियाँ एकत्र कर दी हैं।

अतएव इस ग्रन्थ का बौद्धों के हृदय में वही आदर, श्रद्धा तथा पूजा भाव है जो किसी हिन्दू का वेद या गीता के प्रति तथा किसी ईसा-मतावलम्बी का बाइविल के प्रति, या किसी पारसी का अवेस्ता के प्रति होता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि विद्वानों में इस धम्मपद ग्रन्थ का साहित्यिक एवं धार्मिक—दोनों ही स्तरों पर समान महत्त्व माना गया है। ऐसे ग्रन्थ संसार में अङ्गुलिगणनीय ही हैं।

✿

धम्मपद

गाथाओं का देशनाक्रम

१. यमकवर्ग प्रथम

२. अप्रमादवर्ग द्वितीय

३. चित्तवर्ग तृतीय

४. पुष्पवर्ग चतुर्थ

५. बालवर्ग पञ्चम

६. पण्डितवर्ग षष्ठ

७. अर्हद्वर्ग सप्तम

८. सहस्त्रवर्ग अष्टम

९. पापवर्ग नवम

१०. दशम दण्डवर्ग

११. जरावर्ग एकादश

१२. आत्मवर्ग द्वादश

१३. लोकवर्ग त्रयोदश

१४. बुद्धवर्ग चतुर्दश

१५. सुखवर्ग पञ्चदश

१६. प्रियवर्ग षोडश

१७. क्रोधवर्ग सप्तदश

१८. मलवर्ग अष्टादश

१९. धर्मस्थवर्ग एकोनविंश

२०. मार्गवर्ग बीसवाँ

२१. प्रकीर्णकवर्ग इक्कीसवाँ

२२. निरयवर्ग बाईसवाँ

२३. नागवर्ग तेईसवाँ

२४. तृष्णावर्ग चौबीसवाँ

२५. भिक्षुवर्ग पचीसवाँ

२६. ब्राह्मणवर्ग छब्बीसवाँ

॥ धम्मपद गाथाओं का देशनाक्रम सम्पन्न ॥

✿

❁ पूजनीय भगवान् अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध को प्रणाम ❁

धम्मपदपालि

१. यमकवग्गो पठमो

१. यमकवर्ग[1] प्रथम

१. चक्षुष्पाल स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं व वहतो पदं॥ १॥

मनःपूर्वङ्गमा धर्माः, मनःश्रेष्ठा मनोमयाः।
मनसा चेत् प्रदुष्टेन, भाषते वा करोति वा।
ततस्तं दुःखमन्वेति, चक्रवद् वहतः पदम्॥ १॥

१. (क) मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों एवं चेष्टाओं (कर्मों) के आरम्भ (उत्पत्ति) में **मन** (की भावना) ही **पूर्वगामी** (आगे आगे चलनेवाला=प्रधान) होता है। (ख) मन ही उन कर्मों के उत्पादक धर्मों का प्रधान (=श्रेष्ठ) है, अतः वे धर्म **मनःश्रेष्ठ** कहलाते हैं। (ग) एवं जैसे मट्टी से बने पात्र 'मृण्मय' (मृत्पात्र) कहलाते हैं तथा दारु (काष्ठ) से बने पात्र 'दारुमय' कहलाते हैं; उसी तरह इन धर्मों के मन से बने (उत्पन्न) होने के कारण (ये धर्म) **मनोमय** कहलाते हैं।

मनुष्य दूषित मन से जो कुछ भी बोलता है या करता है, इन (३ मनःकर्म, ४ वाक्कर्म तथा ३ कायकर्म, यों) दश (१०) अकुशल कर्मों से उत्पन्न दुःख उस मनुष्य का उसी तरह अनुगमन (पीछा) करता है, जैसे किसी बैलगाड़ी का चक्र (पहिया) गाड़ी में जुते हुए बैलों के पैरों का अनुगमन करता रहता है॥

२. मृष्टकुण्डली स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति, छाया व अनपायिनी॥ २॥

मनःपूर्वङ्गमा धर्माः, मनःश्रेष्ठा मनोमयाः।
मनसा चेत् प्रसन्नेन, भाषते वा करोति वा।
ततस्तं सुखमन्वेति, यथा छायानपायिनी॥ २॥

---

१. इस वर्ग में प्रायः सभी उपदेश दो-दो गाथाओं से किये गये हैं। अतः इस का नाम **यमकवर्ग** रखा गया है।

२. (क) मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों एवं चेष्टाओं (कर्मों) के आरम्भ (उत्पत्ति) में **मन** (की भावना) ही **पूर्वगामी** (आगे आगे चलनेवाला=प्रधान) होता है। (ख) मन उन कर्मों के उत्पादक धर्मों का प्रधान (श्रेष्ठ) है, अतः वे धर्म **मनःश्रेष्ठ** कहलाते हैं। (ग) एवं जैसे मट्टी से बने पात्र 'मृणमय' पात्र एवं दारु (काष्ठ) से बने पात्र 'दारुमय' पात्र कहलाते हैं; उसी तरह इन धर्मों का मन से उत्पाद होने के कारण ये **मनोमय** कहलाते हैं।

मनुष्य अपने अलोभ आदि गुणों से सम्पृक्त, श्रद्धासम्पन्न मन से प्रेरित होकर वाणी द्वारा जो कुछ भी बोलता है या शरीर द्वारा चेष्टा करता है; इन दश (३ मानसिक, ४ वाचिक एवं ३ कायिक) कुशल कर्मों से उत्पन्न सुख उसका उसी प्रकार पीछा करता रहता है, जैसे निरन्तर साथ रहने वाली मनुष्य की छाया उसका पीछा किया करती है॥

३. तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति, वेरं तेसं न सम्मति॥ ३॥

आक्रुष्टोऽहं हतश्चाहं, जितो भाण्डं हृतं च मे।
ये चैतदुपनह्यन्ति, वैरं तेषां न शाम्यति॥ ३॥

३. जो गृहस्थ या प्रव्रजित अपने मन में—'उसने मुझको अपमानित किया', 'उसने मुझको मारा', 'उसने मुझको धोखा देकर पराजित किया', 'उसने मेरी अमूल्य वस्तुएँ अपहृत कर लीं'—ऐसी बातों की गाँठ बाँध लेते हैं; उनके ये पारस्परिक वैर, फिर भले ही वे नये हों या पुराने, छोटे हों या बड़े, इस जन्म के हों या पूर्व जन्म के; शान्त नहीं हुआ करते॥

अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं नुपनय्हन्ति, वेरं तेसूपसम्मति॥ ४॥

आक्रुष्टोऽहं हतश्चाहं, जितो भाण्डं हृतं च मे।
ये नैतदुपनह्यन्ति, वैरं तेषूपशाम्यति॥ ४॥

४. जो गृहस्थ या प्रव्रजित अपने मन में—'उसने मुझको अपमानित किया', 'उसने मुझको मारा', 'उसने मुझको धोखे से पराजित किया', 'उसने मेरी अमूल्य वस्तुएँ छीन लीं'—ऐसी बातों की गाँठ बाँध कर नहीं रखते (बहुत समय तक इन्हें स्मरण नहीं रखते) उनके वे पारस्परिक (छोटे बड़े, नये पुराने, ऐहलौकिक या पारलौकिक—सभी प्रकार के) वैर शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं॥

४. कालयक्षिणी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो॥ ५॥

न हि वैरेण वैराणि, शाम्यन्तीह कदाचन।
अवैरेण च शाम्यन्तीत्येष धर्मः सनातनः॥ ५॥

५. जैसे मैला वस्त्र मलिन जल से कथमपि स्वच्छ नहीं हो पाता, उसी तरह वैर करने से पुराने वैर शान्त नहीं हुआ करते। (इसके विपरीत—) जैसे मलिन वस्त्र यदि स्वच्छ जल से धोया जाय तो वह स्वच्छ हो जाता है; उसी तरह, पुराने से पुराने वैर (विरोध) को क्षमा एवं मैत्रीरूप अवैर से (उस का मूलतः समीक्षण एवं प्रत्यवेक्षण करने से) शान्त किया जा सकता है—यही पुराने सन्तों का बताया हुआ मार्ग (उपाय) है। इसे 'सनातन धर्म' कहा जाता है। (प्राचीन बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध एवं क्षीणास्रव भिक्षु (अर्हत्) भी इसी मार्ग का अनुसरण करते रहे हैं)॥

५. कौशाम्बीवासी भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

परे च न विजानन्ति, मयमेत्थ यमामसे।
ये च तत्थ विजानन्ति, ततो सम्मन्ति मेधगा॥ ६॥

परे च न विजानन्ति, गमिष्याम इतो वयम्।
ये च तत्र विजानन्ति, ततः शाम्यन्ति मेधगाः॥ ६॥

६. (विवेकी पुरुषों के अतिरिक्त) दूसरे लोग (जैसे ये कौशाम्बिवासी कलहप्रिय भिक्षु) नहीं समझते कि एक न एक दिन सभी को विनष्ट (मृत्युभाव को प्राप्त) होना है। (इसके विपरीत) जो बुद्धिमान्, विवेकी, पण्डितजन इस (उपर्युक्त) बात को समझते हैं, उनके वर्तमान कलह (=मेधग) शान्त हो जाते हैं; फिर वे भले ही छोटे हों या बड़े, सामान्य हों या गम्भीर, नये हों या पुराने॥

६. महाकाल स्थविर को : : श्वेतव्य नगर के शिंशपावन में

सुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि चामत्तञ्ञुं, कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो, वातो रुक्खं व दुब्बलं॥ ७॥

पश्यन्तं वै शुभं भिक्षुमिन्द्रियेषु न्वसंवृतम्।
भोजने च अमात्रज्ञं, कुसीदं हीनवीर्यकम्।
तं वै प्रसहते मारो, वातो दुर्बलवृक्षवत्॥ ७॥

७. अपने शरीर के हाथ, पैर, मुख आदि अवयवों में शुभ ही शुभ (अच्छाई) देखने वाला, अपनी चक्षु आदि छह इन्द्रियों पर संयम न रखने वाला, भोजन के पर्येषण (खोज), ग्रहण एवं उपभोग में मात्रा (परिमाण) को न जानने वाला, या भोजन की धार्मिकता एवं अधार्मिकता को न जानने वाला, कामभोग (हिंसा क्रोध मिथ्या तर्कवितर्क) के प्रपञ्च में फँसा रहने वाला (=कुसीत), चारों ईर्यापथों में सामर्थ्य न रखने वाला भिक्षु मार से उसी तरह पराजित हो जाता है, जैसे वायु का प्रबल झोंका किसी नदी या झरने के किनारे पर खड़े दुर्बल वृक्ष को गिरा देता है। अर्थात् ऐसे दुर्बल साधक को क्लेशरूप मार पराजित कर देता है॥

असुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु सुसंवुतं।

भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं, सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो, वातो सेलं व पब्बतं॥ ८॥

पश्यन्तमशुभं भिक्षुमिन्द्रियेषु सुसंवृतम्।
भोजने चैव मात्रज्ञं, श्रद्धालुं कृतवीर्यकम्।
तं न प्रसहते मारो, वातोऽभेद्यं गिरिं यथा॥ ८॥

८. इसके विपरीत, अपने शरीर-हाथ पैर केश लोम नख आदि में अशुभ देखने वाला, अपनी छहों इन्द्रियों में संयम रखने वाला, भोजन के पर्येषण आदि में मात्रा (परिमाण) का ज्ञान रखने वाला, लौकिक तथा लोकोत्तर श्रद्धा से युक्त, ईर्यापथों में परिपूर्ण सामर्थ्य वाला भिक्षु मार से उसी तरह पराजित नहीं होता, जैसे प्रबल से प्रबल वायु का झोंका (वेग) विशाल चट्टानों वाले पर्वत को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा पाता। अर्थात् ऐसे सामर्थ्यशाली साधक के अन्तर्मन में उत्पन्न छोटी या बड़ी दुर्भावनाएँ उसे उसकी साधना से किसी तरह भी विचलित नहीं कर सकतीं॥

७. देवदत्त के काषायलाभ को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहिस्सति।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावमरहति॥ ९॥

अनिष्कषायः काषायं यो वस्त्रं धारयिष्यति।
अपेतो दमसत्याभ्यां न स काषायमर्हति॥ ९॥

९. जो पुरुष राग द्वेष, काम क्रोध आदि कषायों (मलों=दोषों) से युक्त है, वह भिक्षूपयोगी काषायवस्त्रों के पहनने ओढने आदि का अधिकारी नहीं माना जाता। तथा जो इन्द्रियदमन एवं सत्यभाषण आदि गुणों से रहित है, दूर है, परित्यक्त है, उसे भी काषाय वस्त्र पहनने का अधिकार नहीं है॥

यो च वन्तकसावस्स, सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावमरहति॥ १०॥

यश्च वान्तकषायः स्यात्, शीलेषु सुसमाहितः।
उपेतो दमसत्याभ्यां, स वै काषायमर्हति॥ १०॥

१०. इसके विपरीत, जो पुरुष (पुद्गल) राग द्वेष, काम क्रोध आदि दोषों (कषायों) से रहित हो चुका है, उन्हें त्याग चुका है, चार मार्गों की साधना द्वारा उन दोषों से सदा के लिये सर्वथा दूर हो चुका है, तथा चतुर्विध शीलाचार-परिशुद्धि में सतत सावधान रहता है, इन्द्रियदमन एवं सत्यभाषण आदि गुणों से सर्वथा सम्पन्न है, वही (ऐसा पुरुष ही) उस निर्मल काषाय वस्त्र के धारण का अधिकारी है॥

८. सञ्जय परिव्राजक के अनागमन को : : राजगृह के वेणुवन में

असारे सारमतिनो, सारे चासारदस्सिनो।

ते सारं नाधिगच्छन्ति, मिच्छासङ्कप्पगोचरा॥ ११॥

असारे सारमतयः, सारे चासारदर्शनाः।

ते सारं नाधिगच्छन्ति, मिथ्यासङ्कल्पगोचराः॥ ११॥

११. (चार प्रत्यय एवं दश वस्तु सम्बन्धी मिथ्यादृष्टियों का आधार लेकर की जाने वाली धर्मदेशना 'असार' कहलाती है; तथा इसके विपरीत, दशवस्तुक सम्यग्दृष्टियों के आधार पर की गयी धर्मदेशना 'सार' कहलाती है। यों उक्त) 'असार' को 'सार' मानने वाले तथा 'सार' को 'असार' मानने वाले साधक 'सार' को कभी नहीं प्राप्त कर सकते; क्योंकि वे कामवितर्कादि के कारण उत्पन्न मिथ्यादृष्टि से साधना करते हुए शीलसार, समाधिसार, प्रज्ञासार, विमुक्तिसार, विमुक्तिज्ञानदर्शनसार, परमार्थसार एवं निर्वाण को कथमपि अधिगत नहीं कर सकते॥

सारं च सारतो ञत्वा, असारं च असारतो।

ते सारं अधिगच्छन्ति, सम्मासङ्कप्पगोचरा॥ १२॥

सारं च सारतो ज्ञात्वा, असारं च असारतः।

ते सारमधिगच्छन्ति, सम्यक्सङ्कल्पगोचराः॥ १२॥

१२. इसके विपरीत, जो पण्डितजन उन शीलसार आदि के विषय में 'यही सार है'— ऐसा जान लेते हैं, तथा पूर्वोक्त 'असार' के विषय में भी 'यही असार है'—ऐसा तत्त्वतः जान लेते हैं, वे पण्डितजन नैष्काम्यसङ्कल्प आदि के आधार पर सम्यक्सङ्कल्प होकर साधना करते हुए अन्त में, पूर्वोक्त शीलसार आदि को ग्रहण करने में समर्थ हो पाते हैं॥

९. नन्द स्थविर को : : **श्रावस्ती के जेतवन में**

यथा अगारं दुच्छन्नं, वुट्ठी समतिविज्झति।

एवं अभावितं चित्तं, रागो समतिविज्झति॥ १३॥

दुश्छन्नं हि यथागारं, वृष्टिः समतिविध्यति।

एवमभावितं चित्तं, रागः समतिविध्यति॥ १३॥

१३. जैसे कोई तृणाच्छादित कुटी, जो बीच बीच में कुछ छिद्र छोड़ कर छायी गयी हो, वर्षा का आघात नहीं सह सकती, उसी तरह, अभावित (भावना=साधना रहित) चित्त रागादि विकारों के आघात को नहीं सहन कर पाता॥

यथा अगारं सुच्छन्नं, वुट्ठी न समतिविज्झति।

एवं सुभावितं चित्तं, रागो न समतिविज्झति॥ १४॥

सुच्छन्नं हि यथागारं, वृष्टिर्न विनिविध्यति।

एवं सुभावितं चित्तं, रागो न विनिविध्यति॥ १४॥

१४. परन्तु, इसके विपरीत, जैसे किसी भले प्रकार से छायी हुई पर्णकुटी में वर्षा का

जल प्रविष्ट नहीं हो पाता; उसी तरह साधना द्वारा परिपुष्ट निर्मल चित्त पर रागादि विकारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता॥

१०. चुन्द शौकरिक को : : राजगृह के वेणुवन में

इध सोचति पेच्च सोचति, पापकारी उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहञ्ञति, दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो॥ १५॥

इह शोचति प्रेत्य शोचति, पापकारी ह्युभयत्र शोचति।
स शोचति स विहन्यते, दृष्ट्वा कर्म क्लेशनमात्मनः॥ १५॥

१५. विविधपापकर्मा पुरुष, मरते समय, यही सोचता है कि मैं जीवनपर्यन्त पापकर्म ही करता रहा—यह उसका 'कर्मविषयक' चिन्तन हुआ। तथा वह अपने 'कर्मविपाक' को, मरने के बाद परलोक में जाने पर सोचता है कि मैं अपने उन कुकर्मों के कारण आज यह दुर्गति भोग रहा हूँ—यह हुआ उसका 'कर्मविपाकचिन्तन'। इस तरह वह यहाँ भी और वहाँ (मरने के बाद) भी—दोनों ही स्थानों पर अपने कुकर्मों के विषय में सोचता रहता है॥

११. किसी धार्मिक उपासक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

इध मोदति पेच्च मोदति, कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति।
सो मोदति सो पमोदति, दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो॥ १६॥

इह मोदते प्रेत्य मोदते, कृतपुण्य उभयत्र मोदते।
स मोदते स प्रमोदते, दृष्ट्वा कर्मविशोधनम्॥ १६॥

१६. नानाविध कुशल कर्मों का कर्ता पुरुष 'मैने यहाँ जन्म ग्रहण कर पुण्यकर्म ही किये, पापकर्म नहीं किये'—यों अपने कर्मों के विषय में चिन्तन करता हुआ प्रसन्न (मुदित) होता है; तथा यह देहत्याग कर स्वकर्मफल के विषय में चिन्तन करते हुए भी प्रसन्न होता है। इस तरह, दोनों ही लोकों में जन्म ग्रहण कर वह प्रसन्न ही होता है। ऐसा यह धार्मिक उपासक स्वकर्मविशुद्धि (पुण्यकर्मसम्पत्ति) देख कर मृत्यु से पूर्व इस लोक में प्रसन्न रहता है, तथा देहत्याग कर परलोक में जाने पर भी अत्यधिक मुदित होता है॥

१२. देवदत्त को : : श्रावस्ती के जेतवन में

इध तप्पति पेच्च तप्पति, पापकारी उभयत्थ तप्पति।
पापं मे कतं ति तप्पति, भिय्यो तप्पति दुग्गतिं गतो॥ १७॥

इह तप्यति प्रेत्य तप्यति, पापकारी ह्युभयत्र तप्यति।
पापं मया कृतमिति तप्यति, भूयस्तप्यति दुर्गतिं गतः॥ १७॥

१७. नानाविध पापकर्ता पुरुष इस लोक में कर्मों के अनुताप से दौर्मनस्य (असन्तोष) के कारण सन्तप्त रहता है। पुनः वही स्वकर्मफल के अनुताप से अतिकष्टदायक नरक में पतन के कारण सन्तप्त रहता है। कथन का तात्पर्य यह है कि पापी पुरुष उक्त द्विविध (कर्म एवं कर्मविपाक) अनुताप से सन्तप्त रहता है। यहाँ (इस लोक में) 'यह मेरा पापकर्म है'—यह

सोच कर सन्तप्त रहता है तथा परलोक (नरक) में जाने पर उस पाप का फल भोगते समय 'यह पाप मैंने किया है'—ऐसा सोच कर अत्यधिक दारुण कष्ट से सन्तप्त रहता है॥

१३. सुमना देवी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

इध नन्दति पेच्च नन्दति, कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति।
पुञ्ञं मे कतं ति नन्दति, भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो॥ १८॥

इह नन्दति प्रेत्य नन्दति, कृतपुण्य उभयत्र नन्दति।
पुण्यं मया कृतमिति नन्दति, भूयो नन्दति सुगतिं गतः॥ १८॥

१८. कोई धर्माराधक यहाँ (इस लोक में) अपने शुभकर्मों के सुख से सुखी रहता है तथा परलोक में जाकर स्वकर्मफल के प्रभाव से सुखी रहता है। यों, यह विविध पुण्यकर्मकर्ता दोनों ही स्थानों पर सुखी रहता है। यहाँ यह यों विचार करता हुआ सुखी रहता है कि मैंने यहाँ पुण्यकर्म किया। फिर परलोक में जाकर यहाँ किये पुण्य के विपाक के प्रभाव से सौमनस्य अनुभव करता हुआ कर्मसुख का उपभोग करता है। इस विपाक- प्रभाव से सत्तावन (५७) करोड़ वर्ष तक शुभलोकों में सुखमय जीवनयात्रा करता हुआ, साठ लाख वर्ष तक दिव्य (स्वर्ग) सुख-सम्पत्ति का उपभोग करता हुआ तुषित लोक में अतीव प्रसन्न रहता है॥

१४. दो साथी भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

बहुं पि चे संहितं भासमानो, न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो व गावो गणयं परेसं, न भागवा सामञ्ञस्स होति॥ १९॥

बह्वीमपि संहितां भाषमाणो, न तत्करो ना भवति प्रमत्तः।
गोपो यथा गा गणयन् परेषां, न भागवान् श्रामण्यस्य भवति॥ १९॥

१९. कोई प्रमादी पुरुष बहुत से बुद्धवचनों का, केवल दूसरों के लिये पारायण करता रहे, परन्तु स्वयं उन बुद्धवचनों का अनुसरण न करे तथा केवल मुर्गे की तरह शास्त्र में पंख फड़फड़ाता रहे तो उस पुरुष को उस ग्वाले के सदृश ही समझना चाहिये जो दूसरों की गौओं की प्रातः सायं गणना करता रहता है। उसे इस आचरण से श्रामण्य (प्रव्रज्या) का फल वैसे ही नहीं मिलता जैसे उस गोपालक को उन गौओं का दूध (पीने के लिये) नहीं मिल पाता। ऐसा भिक्षु अपने शिष्यों को तो कर्तव्य का विधि-निषेध बता सकता है, परन्तु स्वयं श्रामण्य-फल प्राप्त नहीं कर पाता॥

अप्पं पि चे संहितं भासमानो, धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागं च दोसं च पहाय मोहं, सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा, स भागवा सामञ्ञस्स होति॥ २०॥

यमकवग्गो निट्ठितो॥

अल्पामपि संहितां भाषमाणो, धर्मस्य भवत्यनुधर्मचारी।
रागं च द्वेषं च विहाय मोहं, सम्यग्मतिः स सुविमुक्तचित्तः।

अनुपाददान इह वा परत्र, स भागवान् श्रामण्यस्य भवति॥ २०॥

२०. (इसके विपरीत—) जो साधक भिक्षु बुद्धवचन (संहिता) का पारायण (स्वाध्याय) भले ही अल्प (एक या दो वर्ग) ही करे; परन्तु उस बुद्धवचन के अनुसार अर्थ एवं धर्म को जानता हुआ, आचरण करता हुआ, प्रथम ध्यान आदि के अभ्यास में सतत प्रयत्नशील रहता है; राग द्वेष मोह का सर्वथा त्याग कर देता है, तथा सम्यक्प्रज्ञायुक्त होकर स्वचित्त को सभी चिन्ताओं से मुक्त रखता है, जो इस लोक या परलोक में किसी प्रकार का उपादान (परिग्रह) स्वीकार नहीं करता, सर्वत्र निरासक्त रहता है; वही साधक श्रामण्य (अर्हत्त्व) की प्राप्ति का अधिकारी होता है॥

प्रथम यमकवर्ग सम्पन्न॥

✿

२. अप्पमादवग्गो दुतियो

२. अप्रमादवर्ग द्वितीय

१. सामावती आदि उपासिकाओं को : : कौशाम्बी के घोषिताराम में

अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता॥ २१॥

अप्रमादोऽमृतपदं, प्रमादो मृत्युदायकः।
म्रियन्ते नाप्रमत्ता वै, ये प्रमत्ता यथा मृताः॥ २१॥

२१. अप्रमाद (साधना या चर्या में भूल न होना) अमृत का पद (मार्ग) है। तथा प्रमाद मृत्यु (की ओर ले जाने वाले स्थान) का मार्ग है। अप्रमादी (प्रमाद न करने वाले) का (वास्तविक) मरण नहीं होता। (इसके विपरीत—) जो साधक प्रमत्त जीवन व्यतीत करते हैं वे (जीवित रहते हुए भी) मृत के समान हैं॥

एवं विसेसतो ञत्वा, अप्पमादम्हि पण्डिता।
अप्पमादे पमोदन्ति, अरियानं गोचरे रता॥ २२॥

एवं विशेषतो ज्ञात्वा, येऽप्रमादे नु पण्डिताः।
अप्रमादे प्रमोदन्ते, आर्याणां गोचरे रताः॥ २२॥

२२. जो पण्डित (बुद्धिमान्) जन इस (अप्रमाद) को विशेष रूप से जान कर अप्रमाद में ही आनन्द का अनुभव करते हैं, तथा आर्यजनों की अभिमत ज्ञानसाधना में ही संलग्न रहते हैं॥

ते झायिनो साततिका, निच्चं दळ्हपरक्कमा।

फुसन्ति धीरा निब्बानं, योगक्खेमं अनुत्तरं॥ २३॥
ते ध्यायिनः साततिकाः, नित्यं दृढपराक्रमाः।
स्पृशन्ति धीरा निर्वाणं, योगक्षेममनुत्तरम्॥ २३॥

२३. जो साधक निरन्तर ध्यानावस्था में स्थित रहते हैं, एतदर्थ सतत उद्योगपरायण रहते हैं, ऐसे वे धैर्यशाली साधक उत्तम कल्याणमय निर्वाण का स्पर्श करते हुए उसका यथासमय साक्षात्कार कर ही लेते हैं॥

२. कुम्भघोषक श्रेष्ठी को : : राजगृह के वेणुवन में

उट्ठानवतो सतीमतो, सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो।
सञ्ञतस्स धम्मजीविनो, अप्पमत्तस्स यसोभिवड्ढति॥ २४॥
उत्थायिनः स्मृतिमतः, शुचिकर्मकृतो निशम्यकारिणः।
संयतस्य धर्मजीविनोऽप्रमत्तस्य यशोऽभिवर्धते॥ २४॥

२४. उत्थानशील, स्मृतिमान्, पवित्र कर्म करने वाले, विचारपूर्वक क्रियाविधि निष्पन्न करने वाले, अपने मन वाणी एवं काय की क्रियाओं को संयत रखने वाले तथा धर्मपूर्वक जीवननिर्वाह करने वाले पुरुष का यश निरन्तर बढ़ता ही रहता है॥

३. चूड़पथिक स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

उट्ठानेनप्पमादेन, संयमेन दमेन च।
दीपं कयिराथ मेधावी, यं ओघो नाभिकीरति॥ २५॥
उत्थानेनाप्रमादेन, संयमेन दमेन च।
द्वीपं कुर्वीत मेधावी, यदौघेन(न)विकीर्यते॥ २५॥

२५. बुद्धिमान् पुरुष वीर्यरूप उत्थान, अप्रमाद, संयम एवं दमन—इन क्रियाओं के माध्यम से स्वयं को ऐसा द्वीप (शरणस्थल) बना ले, जिसे (विकाररूप) जलप्रवाह (औघ) उसके अर्हत्त्व को बिखेर (विकीर्ण) न सके॥

४. बालनक्षत्र के अवसर पर : : श्रावस्ती के जेतवन में

पमादमनुयुञ्जन्ति, बाला दुम्मेधिनो जना।
अप्पमादं च मेधावी, धनं सेट्ठं व रक्खति॥ २६॥
प्रमादमनुयुञ्जन्ति, बाला दुर्मेधसो जनाः।
अप्रमादं च मेधावी, रक्षति श्रेष्ठवित्तवत्॥ २६॥

२६. मूर्ख एवं दुर्बुद्धि पुरुषों का मन प्रमाद में लगा रहता है; परन्तु बुद्धिमान् पुरुष अप्रमाद की उसी तरह रक्षा करते हैं जैसे कोई व्यापारी अपने धन की रक्षा करता है॥

मा पमादमनुयुञ्जेथ, मा कामरतिसन्थवं।
अप्पमत्तो हि झायन्तो, पप्पोति विपुलं सुखं॥ २७॥
मा प्रमादमनुयुञ्जीत, मा कामरतिसंस्तवम्।

अप्रमत्तो नरो ध्यायन्, प्राप्नोति विपुलं सुखम्॥ २७॥

२७. (अत:) प्रमाद में अपना मन न लगाओ। काम एवं वासनाओं से भी अपना परिचय न बढ़ाओ। अप्रमादी पुरुष सद्गुणों का ध्यान करता हुआ ही विपुल सौख्य अधिगत कर पाता है॥

५. महाकाश्यप स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

पमादं अप्पमादेन, यदा नुदति पण्डितो।
पञ्ञापासादमारुय्ह, असोको सोकिनिं पजं।
पब्बतट्ठो व भूमट्ठे, धीरो बाले अवेक्खति॥ २८॥

प्रमादमप्रमादेन, यदा नुदति पण्डित:।
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य, अशोक: शोकिनीं प्रजाम्।
गिरिष्ठ इव भूमिष्ठान्, धीरो बालानवेक्षते॥ २८॥

२८. जब बुद्धिमान् पुरुष अप्रमाद से प्रमाद को दूर कर देता है, तब प्रज्ञारूप प्रासाद पर चढ़ कर तथा वीतशोक होकर, शोकमग्न प्रजा को इस प्रकार देखता है जैसे पर्वत पर बैठा हुआ कोई पुरुष भूमि पर खड़े हुए साधारणजनों को देखा करता है॥

६. दो प्रमत्त अप्रमत्त भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अप्पमत्तो पमत्तेसु, सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्सं व सीघस्सो, हित्वा याति सुमेधसो॥ २९॥

अप्रमत्त: प्रमत्तेषु, सुप्तेषु बहुजागर:।
यथाऽबलाश्वं शीघ्राश्वो हित्वा याति सुबुद्धिमान्॥ २९॥

२९. बुद्धिमान् एवं सावधान पुरुष प्रमादियों से अप्रमत्त होकर तथा सोये हुओं से जाग्रत् होकर इसी प्रकार आगे बढ़ जाता है जैसे शक्तिसम्पन्न तथा शीघ्रगामी अश्व दुर्बल अश्वों को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ जाता है॥

७. शक्र देवराज (मघ माणव) को : : वैशाली की कूटागारशाला में

अप्पमादेन मघवा, देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति, पमादो गरहितो सदा॥ ३०॥

अप्रमादेन मघवा, देवानां श्रेष्ठतां गत:।
अप्रमादं प्रशंसन्ति, प्रमादो गर्हित: सदा॥ ३०॥

३०. देवराज शक्र (इन्द्र) अप्रमाद के बल पर ही सभी देवताओं में श्रेष्ठ बन पाये। (अतएव) बुद्धिमान् पुरुष अप्रमाद गुण की ही प्रशंसा करते हैं। (इसके विपरीत) प्रमाद की तो, क्या मूर्ख क्या बुद्धिमान्—सभी ने निन्दा की है॥

८. अन्यतर भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।

संयोजनं अणुं थूलं, डहं अग्गीव गच्छति॥ ३१॥

अप्रमादरतो भिक्षुः, प्रमादे भयदर्शनः।

संयोजनमणु स्थूलं गच्छत्यग्निर्दहन्निव॥ ३१॥

३१. अप्रमादपूर्वक साधना करने वाला भिक्षु, प्रमादक्रिया से भय मानता है। तथा वह उस अप्रमाद के बल पर अपने छोटे से छोटे एवं बड़े से बड़े बन्धनों को, अग्नि की तरह, भस्म करता चलता है॥

९. निगमवासितिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।

अभब्बो परिहानाय, निब्बानस्सेव सन्तिके॥ ३२॥

अप्पमादवग्गो निट्ठितो॥

अप्रमादरतो भिक्षुः, प्रमादे भयदर्शनः।

अभव्यः परिहाणाय, निर्वाणस्यैव सन्तिके॥ ३२॥

३२. ऐसा अप्रमादरत एवं प्रमाद से भय मानने वाला भिक्षु कभी अपने भिक्षुभाव से पतित हो जाय—यह सम्भव नहीं है। उसको तो निर्वाण के समीप ही पहुँचा हुआ समझना चाहिये॥

अप्रमादवर्ग द्वितीय सम्पन्न॥

✿

३. चित्तवग्गो ततीयो

३. चित्तवर्ग तृतीय

१. आयुष्मान् मेघिय को : : चालिय पर्वत पर

फन्दनं चपलं चित्तं, दूरक्खं दुन्निवारयं।

उजुं करोति मेधावी, उसुकारो व तेजनं॥ ३३॥

स्पन्दनं चपलं चित्तं दूरक्षं दुर्निवारम्।

ऋजुकरोति मेधावी, इषुकृत् तेजनं यथा॥ ३३॥

३३. बुद्धिमान् पुरुष अपने निरन्तर विचलित रहने वाले, चञ्चल, एवं कठिनतया संरक्षित तथा निवारण करने योग्य चित्त को उसी तरह सीधा एवं सरल रखे; जैसे कोई बाण बनाने वाला अपने बनाये हुए बाण को सीधा (तेज=तीक्ष्ण) करता है॥

वारिजो व थले खित्तो, ओकमोकतउब्भतो।
परिफन्दतिदं चित्तं, मारधेय्यं पहातवे॥ ३४॥
मत्स्यो यथा स्थले क्षिप्त उदकस्यौकत उद्धृतः।
मारधेयप्रहाणाय, चित्तं स्पन्दति सर्वदा॥ ३४॥

३४. जैसे जल से निकाल कर स्थल पर फेंकी गयी मछली तड़फड़ाती रहती है; उसी प्रकार, मृत्युबन्धन से छुटकारा पाने के लिये प्राणियों का चित्त चञ्चल (तड़फड़ाता) रहता है॥

२. किसी भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

दुन्निग्गहस्स लहुनो, यत्थकामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु, चित्तं दन्तं सुखावहं॥ ३५॥
दुर्निग्रहस्य च लघोर्यत्रकामनिपातिनः।
चित्तस्य दमनं साधु, दान्तं चित्तं सुखावहम्॥ ३५॥

३५. जो चित्त बहुत बलपूर्वक निग्रहणीय है, चञ्चल है, इच्छानुसार इधर उधर भागने वाला है, ऐसे चित्त का दमन करना सर्वोत्तम होता है; क्योंकि निगृहीत चित्त ही सुखप्रद होता है॥

३. किसी उत्कण्ठित भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सुदुद्दसं सुनिपुणं, यत्थकामनिपातिनं।
चित्तं रक्खेथ मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहं॥ ३६॥
सुदुर्दर्शं सुनिपुणं यत्रकामनिपातिनम्।
चित्तं रक्षेद्धि मेधावी, गुप्तं चित्तं सुखावहम्॥ ३६॥

३६. जो कठिनतया देखे जाने योग्य है, अत्यधिक चतुर है, इच्छानुसार इधर उधर दौड़ने वाला है, बुद्धिमान् पुरुष अपने ऐसे चित्त पर निग्रह करे। ऐसा निगृहीत (गुप्त) चित्त ही सुखप्राप्ति का साधन हो सकता है॥

४. सङ्घरक्षितभागिनेय स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

दूरङ्गमं एकचरं, असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं संयमिस्सन्ति, मोक्खन्ति मारबन्धना॥ ३७॥
दूरङ्गममेकचरमशरीरं गुहाशयम्।
संयंस्यन्ति तु ये चित्तं मोक्ष्यन्ते मारबन्धनात्॥ ३७॥

३७. जो मनुष्य इस दूर दूर तक भागने वाले, एकाकी विचरण करने वाले, अशरीरी, हृदयरूप गुहा में स्थित, चित्त पर संयम (निग्रह=निरोध) कर लेंगे वे मारबन्धन से छूट जायँगे॥

५. चित्तहस्त स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अनवट्ठितचित्तस्स, सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स, पञ्ञा न परिपूरति॥ ३८॥

अनवस्थितचित्तस्य, सद्धर्ममविजानतः।
परिप्लवप्रसादस्य, प्रज्ञया नैव पूर्यते॥ ३८॥

३८. जिस (साधक) का चित्त एक स्थान पर अवस्थित (स्थिर) नहीं है, जो सद्धर्म (की गम्भीरता) को नहीं जानता तथा जिसके मन की शान्ति विनष्ट हो गयी है, उसकी प्रज्ञा परिपूर्ण नहीं कही जा सकती॥

अनवस्सुतचित्तस्स, अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीनस्स, नत्थि जागरतो भयं॥ ३९॥

अनवश्रुतचित्तस्य, अनन्वाहतचेतसः।
पुण्यपापप्रहीणस्य, नास्ति वै जाग्रतो भयम्॥ ३९॥

३९. जिसका चित्त मलरहित (अनवश्रुत) है, जिसका चित्त अप्रतिहत (अनन्वाहत) है और जो पुण्य एवं पाप से ऊपर उठ (क्षीणास्रव हो) चुका है, ऐसे सावधान (जाग्रत्) साधक को कहीं से कोई भय नहीं है॥

६. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा, नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा।
योधेथ मारं पञ्ञावुधेन, जितं च रक्खे अनिवेसनो सिया॥ ४०॥

कुम्भोपमं कायमिमं विदित्वा, नगरोपमं चित्तमिदं गृहीत्वा।
युध्येत मारं प्रज्ञायुधेन, जितं च रक्षेदनिवेशनः स्यात्॥ ४०॥

४०. (अपने) इस शरीर को (मिट्टी के) घट के समान क्षणस्थायी समझ कर, इस चित्त को नगर के समान सुरक्षित बना कर, साधक पुरुष प्रज्ञारूप शस्त्र लेकर मार के साथ युद्ध करे। वह जीते हुए की रक्षा करे, और (संसार में) आसक्तिरहित होकर विचरण करे॥

७. पूतिगात्र तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अचिरं वतयं कायो, पठविं अधिसेस्सति।
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो, निरत्थं व कलिङ्गरं॥ ४१॥

अयं बताचिरं कायः पृथिवीमधिशेष्यते।
क्षुब्धश्चापेतविज्ञानो निष्प्रयोजनकाष्ठवत्॥ ४१॥

४१. कुछ ही समय बाद तुम्हारा यह शरीर, क्षुब्ध होकर चेतनाशून्य एवं निरर्थक, शुष्क तथा गलित काष्ठ के समान भूमि पर गिर जायगा॥

८. नन्द गोपालक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

दिसो दिसं यं तं कयिरा, वेरी वा पन वेरिनं।

मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे॥ ४२॥

द्विट् द्विषं प्रति यत् कुर्यात्, वैरी वा पन वैरिणम्।

मिथ्याप्रणिहितं चित्तं, पापीयस्तं ततः क्रियात्॥ ४२॥

४२. शत्रु शत्रु के प्रति, वैरी वैरी के प्रति जो अहित करने में समर्थ नहीं हो पाता, कुपथ में प्रवृत्त (लगा हुआ) उसका चित्त उन शत्रुओं से अधिक उसका अहित कर डालता है॥

९. सौरेय स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

न तं माता पिता कयिरा, अञ्ञे वा पि च ञातका।

सम्मापणिहितं चित्तं, सेय्यसो नं ततो करे॥ ४३॥

चित्तवग्गो निट्ठितो॥

पितरौ तन्न कुर्याताम्, अन्ये चापि नु ज्ञातिकाः।

सम्यक्प्रणिहितं चित्तं, श्रेयः कुर्यात् ततोऽधिकम्॥ ४३॥

४३. मनुष्य का, उसके माता पिता तथा सम्बन्धिजन जितना हित नहीं कर पाते, उससे अधिक उसका हित सम्यक्प्रणिहित (सन्मार्ग में प्रवृत्त) चित्त सम्पादित कर देता है॥

चित्तवर्ग तृतीय सम्पन्न॥

✿

४. पुप्फवग्गो चतुत्थो

४. पुष्पवर्ग चतुर्थ

१. पृथ्वीकथाप्रसक्त पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

को इमं पठविं विजेस्सति, यमलोकं च इमं सदेवकं।

को धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति?॥ ४४॥

सेखो पठविं विजेस्सति, यमलोकं च इमं सदेवकं।

सेखो धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति॥ ४५॥

पृथ्वीमिमां कः प्रविचेष्यतीह, यमस्य लोकं नु सदेवकं च।

सूद्देशितं धर्मपदं नरः को विचक्षणः पुष्पमिव प्रचेष्यति?॥ ४४॥

विचेष्यतीमां पृथिवीं हि शैक्ष्यो, यमस्य लोकं नु सदेवकं च।

सुदेशितं धर्मपदं नु शैक्ष्यो, विचक्षणः पुष्पमिव प्रचेष्यति?॥ ४५॥

४४. इस समय पृथ्वी का तथा देवलोक सहित यमलोक का कौन चयन कर पायगा? यहाँ कौन कुशल साधक सम्यक् प्रकार से उपदिष्ट धर्म के पदों (३७ बोधिपक्षीय धर्मों) का, पुष्पों की भाँति, चयन कर पायगा?

४५. शैक्ष्य (साधक) ही इस पृथ्वी का तथा देवलोकसहित यमलोक का चयन कर पायगा। कुशल (साधनाप्रवीण) शैक्ष्य (साधक) ही सम्यक् प्रकार से उपदिष्ट धर्मपदों (३७ बोधिपक्षीय धर्मों) का सम्यक्तया (भली भाँति) चयन कर पायगा॥

२. मरीचिकर्मस्थानिक भिक्षुओं को : : श्रावस्ती में

फेणूपमं कायमिमं विदित्वा, मरीचिधम्मं अभिसम्बुधानो।
छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि, अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे॥ ४६॥

फेनोपमं कायमिमं विदित्वा मरीचिधर्ममभिसम्बोधमानः।
छित्त्वा स मारस्य प्रपुष्पकाणि, अदर्शनं मृत्युराजस्य गच्छेत्॥ ४६॥

४६. साधक अपने शरीर को जल के फेन (झाग) के समान समझ कर, तथा मृगमरीचिका के स्वभाव (भ्रमोत्पादक ज्ञान कराने) वाला समझता हुआ, मार के पुष्पमय बाणों को काट कर, यमराज (मृत्यु के अधिष्ठाता देवता) की दृष्टि से अदृश्य हो जाय॥

३. कोशलराज विडूडभ को : : श्रावस्ती में

पुप्फानि हेव पचिनन्तं, ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो व, मच्चु आदाय गच्छति॥ ४७॥

पुष्पाण्येव प्रचिन्वन्तं, व्यासक्तमनसं नरम्।
गच्छति मृत्युरादाय, सुप्तं ग्रामं महौघवत्॥ ४७॥

४७. जिस प्रकार नदी का विशाल जलप्रवाह सोये हुए ग्राम को बहा कर ले जाता है, उसी प्रकार कामभोगरूप पुष्पों का चयन करने वाले तथा उन्हीं में आसक्त रहने वाले मनुष्य को मृत्यु पकड़ कर ले जाती है॥

४. किसी पतिपूजिका कुमारी को : : श्रावस्ती में

पुप्फानि हेव पचिनन्तं, ब्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तञ्ञेव कामेसु, अन्तको कुरुते वसं॥ ४८॥

पुष्पाण्येव प्रचिन्वन्तं, व्यासक्तमनसं नरम्।
अतृप्तमिव कामेसु, ह्यन्तकः कुरुते वशम्॥ ४८॥

४८. कामभोगरूप पुष्पों का चयन करने वाले तथा उन्हीं में आसक्त चित्त वाले एवं वासनाओं की पूर्ति से अतृप्त रहने वाले मनुष्य को मृत्यु अपने वश में कर लेती है॥

५. मात्सर्यकौषेय श्रेष्ठी को : : श्रावस्ती में

यथा पि भमरो पुप्फं, वण्णगन्धमहेठयं।
पलेति रसमादाय, एवं गामे मुनी चरे॥ ४९॥

यथापि भ्रमरः पुष्पं, वर्णगन्धमहेठयन्।
परैति रसमादाय, ग्रामे एवं मुनिश्चरेत्॥ ४९॥

४९. जैसे कोई भ्रमर पुष्प के सौन्दर्य एवं गन्ध की कुछ भी हानि किये विना, उसका रस लेकर आगे बढ़ जाता है, वैसे ही मुनि (भिक्षु) को ग्राम में विचरण करना चाहिये॥

६. पावेयक आजीवक भिक्षु को : : श्रावस्ती में

न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं।
अत्तनो व अवेक्खेय्य, कतानि अकतानि च॥ ५०॥

न परेषां विलोमानि, न परेषां कृताकृतम्।
आत्मन एव पश्येद्वै, अकृतानि कृतानि च॥ ५०॥

५०. मनुष्य दूसरों के दोष या दूसरों द्वारा किये गये अच्छे बुरे कर्मों पर विचार न करे; अपितु उसे केवल स्वयंकृत भले बुरे कर्मों का ही समीक्षण करते रहना चाहिये॥

७. छत्रपाणि उपासक को : : श्रावस्ती में

यथा पि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं अगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, अफला होति अकुब्बतो॥ ५१॥

यथापि रुचिरं पुष्पं, वर्णवत् सद् अगन्धकम्।
एवं सुभाषिता वाचा, निष्फला स्यादकुर्वतः॥ ५१॥

५१. जिस प्रकार सुन्दर वर्ण (रंग) युक्त पुष्प गन्धहीन होने से मनुष्य के लिये निष्फल एवं निरर्थक होता है; इसी तरह सुभाषित वाणी भी, यदि उस पर आचरण न किया जाय तो वह, निष्फल एवं निरर्थक ही होती है॥

यथा पि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं सगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, सफला होति कुब्बतो॥ ५२॥

यथापि रुचिरं पुष्पं, वर्णवद्वै सगन्धकम्।
एवं सुभाषिता वाचा, सफला भवति कुर्वतः॥ ५२॥

५२. (इसके विपरीत) जिस प्रकार सुन्दर वर्ण (रंग) युक्त पुष्प सुगन्धमय भी हो तो वह मनुष्यों को अत्यधिक लाभप्रद होता है, उसी प्रकार, सुभाषित वाणी, यदि उस पर आचरण भी किया जाय तो वह उन मनुष्यों के लिये अतीव हितावह होती है॥

८. विशाखा उपासिका को : : श्रावस्ती के पूर्वाराम में

यथा पि पुप्फरासिम्हा, कयिरा मालागुणे बहू।
एवं जातेन मच्चेन, कत्तब्बं कुसलं बहुं॥ ५३॥

यथापि पुष्पराशिभ्यः, कुर्यान्मालागुणान् बहून्।
एवं जातेन मर्त्येन, कर्तव्यं कुशलं बहु॥ ५३॥

५३. जैसे (कोई चतुर माली) किसी पुष्पसमूह से नाना प्रकार की मालाएँ गूँथता रहता

है; उसी प्रकार इस लोक में उत्पन्न हुए मनुष्य को अनेक प्रकार से शुभ कर्म करते रहना चाहिये॥

९. आयुष्मान् आनन्द को : : श्रावस्ती में

न पुप्फगन्धो पटिवातमेति, न चन्दनं तगरमल्लिका वा।
सतं च गन्धो पटिवातमेति, सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवायति॥५४॥

न पुष्पगन्धः प्रतिवातमेति, न चन्दनं तगरं मल्लिका वा।
सतां च गन्धः प्रतिवातमेति, सर्वा दिशः सत्पुरुषः प्रवाति॥५४॥

५४. पुष्पों की गन्ध वायु के विपरीत नहीं जाती; इसी तरह चन्दन, तगर या मल्लिका (जूही) की गन्ध भी वायु के प्रतिकूल नहीं जा पाती; परन्तु सज्जनों (शीलवानों) के गुणों की प्रशंसा गन्ध वायु के प्रतिकूल भी जाने में समर्थ है। इस तरह, सज्जन, अपने शील के कारण, सभी दिशाओं में व्याप्त रह कर प्रशंसा प्राप्त करता है॥

चन्दनं तगरं वा पि, उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं, सीलगन्धो अनुत्तरो॥५५॥

चन्दनं तगरं वापि, उत्पलं चाथ वार्षिकी।
एतेषु गन्धजातेषु शीलगन्धो ह्यनुत्तरः॥५५॥

५५. चन्दन, तगर, कमल एवं चमेली—इनकी गन्धों की अपेक्षा शील (सदाचार) की गन्ध अत्युत्कट (अनुत्तर) होती है॥

१०. महाकाश्यप स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

अप्पमत्तो अयं गन्धो, य्वायं तगरचन्दनं।
यो च सीलवतं गन्धो, वाति देवेसु उत्तमो॥५६॥

गन्धोऽयं तगरादीनां स्वल्पमात्रं हि दृश्यते।
यश्च शीलवतां गन्धो वाति देवेषु चोत्तमः॥५६॥

५६. तगर एवं चन्दन आदि की गन्ध तो अल्पमात्र ही होती है; परन्तु सच्चरित्र (शीलवान्) पुरुषों के शील की गन्ध देवताओं (के वासस्थान) तक पहुँच जाती है॥

११. गोधिक स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

तेसं सम्पन्नसीलानं, अप्पमादविहारिनं।
सम्मदञ्ञा विमुत्तानं, मारो मग्गं न विन्दति॥५७॥

तेषां सम्पन्नशीलानामप्रमादविहारिणाम्।
सम्यग्ज्ञानविमुक्तानां मारो मार्गं न विन्दति॥५७॥

५७. उन शीलसम्पन्न (सदाचारी) एवं अप्रमत्त होकर साधना करने वाले तथा सम्यग्ज्ञानद्वारा मुक्त हुए मनुष्यों को पापी मार नहीं खोज सकता॥

१२. गर्हादत्त निगण्ठश्रावक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यथा सङ्कारधानस्मिं, उज्झितस्मिं महापथे।
पदुमं तत्थ जायेथ, सुचिगन्धं मनोरमं॥ ५८॥
एवं सङ्कारभूतेसु, अन्धभूते पुथुज्जने।
अतिरोचति पञ्ञाय, सम्मासम्बुद्धसावको॥ ५९॥

पुप्फवग्गो निट्ठितो॥

यथा सङ्कारधाने वै, उज्झिते नु बृहत्पथे।
पद्मं तत्र नु जायेत, शुचिगन्धं मनोरमम्॥ ५८॥
एवं सङ्कारभूतेषु, ह्यन्धभूते महाजने।
सम्यक्सम्बुद्धशिष्यो वै, प्रज्ञया रोचते भृशम्॥ ५९॥

५८, ५९. जैसे कूड़ा कर्कट फेंके गये राजमार्ग पर शुद्ध गन्धवाला मनोहर कमलपुष्प खिल उठे; उसी प्रकार कूड़े कर्कट से युक्त के समान अविद्यान्ध मनुष्यों में भगवान् बुद्ध का सम्यग्ज्ञानप्राप्त शिष्य स्वकीय प्रज्ञा से सर्वत्र प्रकाशित होता है॥

पुष्पवर्ग चतुर्थ सम्पन्न॥

✿

५. बालवग्गो पञ्चमो

५. बालवर्ग पञ्चम

१. कौशलराज प्रसेनजित् को : : श्रावस्ती के जेतवन में

दीघा जागरतो रत्ति, दीघं सन्तस्स योजनं।
दीघो बालान संसारो, सद्धम्मं अविजानतं॥ ६०॥
दीर्घा वै जाग्रतो रात्रिर्दीर्घं श्रान्तस्य योजनम्।
दीर्घो बालस्य संसारः, सद्धर्ममविजानतः॥ ६०॥

६०. जागने वाले पुरुष को रात्रि (की समय सीमा) लम्बी ज्ञात होती है। थके हुए यात्री को आगे की यात्रा लम्बी ज्ञात होती है; उसी तरह सद्धर्म को न जानने वाले अज्ञानियों के लिये यह संसार (की यात्रा) अपेक्षाकृत अधिक लम्बा (दीर्घ) प्रतीत होता है॥

२. महाकाश्यप के शिष्य को : : श्रावस्ती के जेतवन में

चरञ्चे नाधिगच्छेय्य, सेय्यं सदिसमत्तनो।
एकचरियं दळ्हं कयिरा, नत्थि बाले सहायता॥ ६१॥

चरँश्चेन्नाधिगच्छेद्वै, श्रेयांसं तुल्यमात्मनः।
एकचर्यां दृढां कुर्यान्नास्ति बाले सहायता॥ ६१॥

६१. यदि सत्पथ पर चलते हुए मनुष्य को अपने समान या अपने से श्रेष्ठ साथी (सहायक) न मिले तो उसे दृढता के साथ अकेले (एकाकी) ही चलना चाहिये; परन्तु किसी मूर्ख का साथ (सहायता) नहीं पकड़ना चाहिये॥

३. आनन्दश्रेष्ठी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

पुत्ता मत्थि धनमत्थि, इति बालो विहञ्ञति।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि, कुतो पुत्ता कुतो धनं॥ ६२॥

पुत्रो मेऽस्ति, धनं मेऽस्ति, इति बालो विहन्यते।
आत्मैव ह्यात्मनो नास्ति, कुतः पुत्राः कुतो धनम्!॥ ६२॥

६२. 'ये मेरे पुत्र हैं', 'यह मेरा धन है'—ऐसा विचार कर मूर्ख पुरुष इस संसार में दुःख ही पाता है। अरे! जब आत्मा ही अपना नहीं है तो ये पुत्र तथा यह धन किसी के कैसे और कहाँ से हो जायँगें!॥

४. ग्रन्थिभेदक चौरों को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो बालो मञ्ञति बाल्यं, पण्डितो वा पि तेन सो।
बालो च पण्डितमानी, स वे बालो ति वुच्चति॥ ६३॥

यो बालो मन्यते बाल्यं, पण्डितो वापि तेन सः।
बालश्च पण्डितम्मन्यः, स वै बाल इतीर्यते॥ ६३॥

६३. जो पुरुष मूर्ख (बाल) होता हुआ भी यह जानता है कि वह वस्तुतः मूर्ख ही है, पण्डित (शास्त्रज्ञ) नहीं, वह (अपनी मूर्खता से परिचित) मूर्ख, मूर्ख होते हुए भी पण्डिततुल्य ही है; क्योंकि उसे अपनी मूर्खता का ज्ञान है। परन्तु जो पुरुष वस्तुतः मूर्ख होते हुए भी अपने को पण्डित मानता है, ऐसा वह पाण्डित्याभिमानी मूर्ख, धर्मश्रवण न करने तथा धार्मिक क्रियाकलापसम्पन्न न करने के कारण, मूर्ख ही रह जाता है॥

५. उदायी स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यावजीवं पि चे बालो, पण्डितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति, दब्बी सूपरसं यथा॥ ६४॥

बालश्चेज्जीवनं यावत्, पर्युपास्ते हि पण्डितम्।
न स धर्मं विजानाति, दर्वी सूपरसं यथा॥ ६४॥

६४. यदि कोई मूर्ख मनुष्य जीवनपर्यन्त किसी पण्डित पुरुष के साथ रहे तो भी वह

धर्म के विषय में वैसे ही कुछ नहीं जान सकता, जैसे सूप में पड़ी हुई कड़छी (दर्वी) सूप के अनुपम रस को नहीं जान पाती॥

६. पावा के तीस भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

मुहुत्तमपि चे विञ्ञू, पण्डितं पयिरुपासति।
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिव्हा सूपरसं यथा॥ ६५॥

मुहूर्तमपि चेद्विज्ञः, पर्युपास्ते हि पण्डितम्।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति, जिह्वा सूपरसं यथा॥ ६५॥

६५. यदि विचारवान् पुरुष क्षणभर ही किसी पण्डित के साथ रहे तो भी वह उससे धर्म के तत्त्व को उसी तरह जान लेता है; जैसे—जिह्वा क्षणमात्र के सम्पर्क से ही सूप का स्वाद (रस) जान लेती है॥

७. कुष्ठरोगी सुप्रबुद्ध को : : राजगृह के वेणुवन में

चरन्ति बाला दुम्मेधा, अमित्तेनेव अत्तना।
करोन्ता पापकं कम्मं, यं होति कटुकप्फलं॥ ६६॥

चरन्ति बालाः कुधियोऽमित्रेणेवात्मना स्वयम्।
कुर्वन्तः पापकं कर्म तस्यास्ति कटुकं फलम्॥ ६६॥

६६. दुर्बुद्धि पुरुष स्वयं ही अपने शत्रु बने हुए घूमते रहते हैं और पापमय कर्म करते रहते हैं, जिनका दुष्परिणाम भोगना उसके लिये निश्चित है॥

८. किसी कृषक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

न तं कम्मं कतं साधु, यं कत्वा अनुतप्पति।
यस्स अस्सुमुखो रोदं, विपाकं पटिसेवति॥ ६७॥

न तत् कर्म कृतं साधु, यत् कृत्वा ह्यनुतप्यते।
रुदन्नश्रुमुखो यस्य, विपाकं प्रतिसेवते॥ ६७॥

६७. किया हुआ वह कार्य अच्छा नहीं कहलाता जिसके करने से मनुष्य को बाद में कोई पश्चात्ताप करना पड़े। तथा जिसका परिणाम (विपाक=फल) आँसू बहाते हुए (रोते हुए) भोगना पड़े॥

९. सुमन मालाकार को : : राजगृह के वेणुवन में

तं च कम्मं कतं साधु, यं कत्वा नानुतप्पति।
यस्स पतीतो सुमनो, विपाकं पटिसेवति॥ ६८॥

तच्च कर्म कृतं साधु, यत् कृत्वा नानुतप्यते।
यस्य प्रतीतं सुमना विपाकं प्रतिसेवते॥ ६८॥

६८. किया हुआ वही कर्म अच्छा होता है, जिसे करने के बाद, मनुष्य को पछताना न पड़े। तथा जिसके परिणाम (फल) को प्रसन्नता(सौमनस्य)पूर्वक भोगा जा सके॥

१०. उत्पलवर्णा थेरी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

मधुव मञ्ञति बालो, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, बालो दुक्खं निगच्छति॥ ६९॥

मध्विव मन्यते बालो, यावत् पापं न पच्यते।
यदा च पच्यते पापं, दुःखं बालो निगच्छति॥ ६९॥

६९. जब तक किसी मूर्ख के पापकर्म का परिपाक नहीं होता, तब तक वह मूर्ख उस कर्म की मधु के समान मिठास ही जान पाता है। तथा जब उस पापकर्म का परिपाक (फल) होता है, तब उस मूर्ख को उस पापकर्म के परिपाकस्वरूप कठोर दुःख भोगना पड़ता है॥

११. जम्बुक आजीवक को : : राजगृह के वेणुवन में

मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुञ्जेय्य भोजनं।
न सो सङ्खतधम्मानं, कलं अग्घति सोळसिं॥ ७०॥

मासे मासे कुशाग्रेण, बालो भुंक्ते हि भोजनम्।
न स सङ्ख्यातधर्माणां, कलामर्हति षोडशीम्॥ ७०॥

७०. यदि कोई मूर्ख मनुष्य प्रतिमास कुशा के अग्रभाग से उठा कर भोजन करे तो भी वह धर्मज्ञान के सोलहवें अंश की भी समानता नहीं कर सकता॥

१२. अहिप्रेत को : : राजगृह के वेणुवन में

न हि पापं कतं कम्मं, सज्जु खीरं व मुच्चति।
डहन्तं बालमन्वेति, भस्मच्छन्नो व पावको॥ ७१॥

नहि पापं कृतं कर्म, सद्यो मुञ्चति दुग्धवत्।
दहत् तद् बालमन्वेति, भस्मावृतवह्निवत्॥ ७१॥

७१. किया हुआ पापमय कर्म शीघ्र ही विकार प्राप्त नहीं करता, जैसे कि दूध (स्तन से निकलते ही) तत्काल विकृत नहीं होता; परन्तु वह पापमय कर्म, भस्म से आवृत अग्नि के समान, उस पापी मूर्ख का पीछा (अनुगमन) करता रहता है॥

१३. षष्टिकूटप्रेत को : : राजगृह के वेणुवन में

यावदेव अनत्थाय, ञत्तं बालस्स जायति।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं, मुद्धमस्स विपातयं॥ ७२॥

यावदेव ह्यनर्थाय, ज्ञत्तं बालस्य जायते।
हन्ति बालस्य शुक्लांशं, तन्मूर्धानं विपातयन्॥ ७२॥

७२. मूर्ख मनुष्य का जितना भी ज्ञान है, यह सब उसके अनर्थ के लिये ही होता है। वह ज्ञान उसके मस्तक को छिन्न भिन्न करता हुआ उसके शुद्ध (शुक्ल) अंश का समूल उच्छेद कर देता है॥

१४. चित्त गृहपति को : : श्रावस्ती के जेतवन में

असन्तं भावनमिच्छेय्य, पुरेक्खारं च भिक्खुसु।
आवासेसु च इस्सरियं, पूजं परकुलेसु च॥ ७३॥

असतीं भावनामिच्छेत्, पुरस्कारं च भिक्षुषु।
आवासेषु च ऐश्वर्यं, पूजां परकुलेषु च॥ ७३॥

७३. जो मूर्ख श्रमण असत् (अविद्यमान) सम्भावनाओं की इच्छा करे, भिक्षुओं के मध्य अग्रणी बनना चाहे, वासस्थानों में ऐश्वर्य (स्वामित्व) की कामना करे तथा दूसरे कुलों (घरों) में जाकर अपने ही मान सम्मान की इच्छा करे॥

ममेव कतमञ्ञन्तु, गिही पब्बजिता उभो।
ममेवातिवसा अस्सु, किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि।
इति बालस्स सङ्कप्पो, इच्छा मानो च वड्ढति॥ ७४॥

'कृतं ममैव मन्येतां गृहिप्रव्रजितावुभौ।
ममैवातिवशौ स्यातां कृत्याकृत्येषु केषुचित्'।
इति बालस्य सङ्कल्प इच्छा, मानश्च वर्धते॥ ७४॥

७४. जो मूर्ख श्रमण यह सङ्कल्प करता है कि गृहस्थ एवं प्रव्रजित—दोनों ही वर्ग मेरे कृत्य का अनुमोदन करें। किन्हीं भी करणीय या अकरणीय कार्यों में (वे दोनों वर्ग) मेरे ही वश में रहें। उस मूर्ख का यह सङ्कल्प उसके इच्छा एवं मान आदि (क्लेशों) को बढ़ाता ही है॥

१५. वनवासी तिष्य श्रामणेर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अञ्ञा हि लाभूपनिसा, अञ्ञा निब्बानगामिनी।
एवमेतं अभिञ्ञाय, भिक्खु बुद्धस्स सावको।
सक्कारं नाभिनन्देय्य, विवेकमनुब्रूहये॥ ७५॥

बालवग्गो निट्ठितो॥

'अन्योपनिषद्धि लाभस्य, अन्या निर्वाणगामिनी'।
एवमेतदभिज्ञाय, भिक्षुर्बुद्धस्य श्रावकः।
सत्कारं नाभिनन्देद् वै, विवेकमनुवृंहयेत्॥ ७५॥

७५. 'सांसारिक लाभ-सत्कार प्राप्त करने का मार्ग अन्य है, तथा निर्वाण की ओर ले जाने वाला मार्ग अन्य'—इस प्रकार यह (मार्ग) जान कर बुद्ध का श्रावक भिक्षु लौकिक सत्कार का अभिनन्दन न करे और विवेक (एकान्त साधना) को ही आगे बढ़ाये॥

बालवर्ग पञ्चम सम्पन्न॥

✿

६. पण्डितवग्गो छट्ठो

६. पण्डितवर्ग षष्ठ

१. राध स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

निधीनं व पवत्तारं, यं पस्से वज्जदस्सिनं।
निग्गय्हवादिं मेधाविं, तादिसं पण्डितं भजे।
तादिसं भजमानस्स, सेय्यो होति न पापियो॥ ७६॥

निधीनां च प्रवक्तारं सम्पश्येद्वर्ज्यदर्शिनम्।
निगृह्यवादिसुधियं तादृशं पण्डितं भजेत्।
तादृशं भजमानस्य श्रेय एव न पापकम्॥ ७६॥

७६. जो निधियों (खजानों) का सङ्केत करने वाले के समान वर्जनीय (त्याज्य) कर्मों का बोध कराने वाला है, जो निगृह्यवादी (ताड़ना देकर सुधारने वाला) है, मेधावी है, ऐसे विद्वान् सज्जन का सङ्ग करना चाहिये। ऐसे मनुष्य का सङ्ग करने वाले को पुण्य ही होता है, पाप नहीं॥

२. अस्सजि-पुनब्बसु भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

ओवदेय्यानुसासेय्य, असब्भा च निवारये।
सतं हि सो पियो होति, असतं होति अप्पियो॥ ७७॥

उपदिशेदनुशिष्याद्वै, असभ्याच्च निवारयेत्।
सतां हि स प्रियो भूयादप्रियश्चासतां ननु॥ ७७॥

७७. जो मनुष्य हित का उपदेश करे, तदर्थ अनुशासन करे, वह मनुष्य सज्जनों को प्रिय लगता है। तथा असज्जनों को अप्रिय॥

३. छन्न स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

न भजे पापके मित्ते, न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे, भजेथ पुरिसुत्तमे॥ ७८॥

भजेन्न पापमित्राणि, न भजेत् पुरुषाधमान्।
भजेत् कल्याणमित्राणि, भजेत पुरुषोत्तमान्॥ ७८॥

७८. स्वहिताकांक्षी पुरुष पापी मित्रों का साथ न करे, वह अधम पुरुषों का भी सङ्ग न करे; अपितु वह कल्याणकारी मित्रों का ही सङ्ग करे, उत्तम पुरुषों का ही साथ करे॥

४. महाकप्पिन स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

धम्मपीति सुखं सेति, विप्पसन्नेन चेतसा।
अरियप्पवेदिते धम्मे, सदा रमति पण्डितो॥ ७९॥

धर्मप्रीतिः सुखं शेते, विप्रसन्नेन चेतसा।
आर्यप्रवेदिते धर्मे, पण्डितो रमते सदा॥ ७९॥

७९. धर्मरस का पान करने वाला प्रसन्नचित्त होकर सुखपूर्वक सोता है; क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य ही आर्यों द्वारा प्रोक्त धर्म में सदा अभिरमण कर पाता है॥

५. पण्डित श्रामणेर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति पण्डिता॥ ८०॥

उदकं हि नयन्ति नेतृकाः, इषुकारा नमयन्ति तेजनम्।
नमयन्ति हि दारु तक्षकाः, आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः॥ ८०॥

८०. जैसे नहरों के निर्माता नहरों से जल ले जाते हैं, बाण बनाने वाले बाण (शर) को नम्र (सीधा) करते हैं, बढ़ई काष्ठ को ठीक (सरल) बनाते हैं; उसी तरह पण्डित पुरुष आत्मसंयम में ही तत्पर रहते हैं॥

६. लकुण्टकभद्दिय स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सेलो यथा एकघनो, वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु, न समिञ्जन्ति पण्डिता॥ ८१॥

यथा ह्येकघनः शैलो, वातेन न समीर्यते।
एवं निन्दाप्रशंसासु, समीर्यन्ते न पण्डिताः॥ ८१॥

८१. जैसे सुदृढ (एकघन) पर्वत प्रबलतम वायु से भी कम्पित नहीं होता; उसी प्रकार बुद्धिमान् (पण्डित) पुरुष भी निन्दा या प्रशंसा आदि लोकधर्मों से विचलित नहीं होता॥

७. काणमाता को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यथा पि रहदो गम्भीरो, विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान, विप्पसीदन्ति पण्डिता॥ ८२॥

ह्रदो यथा हि गम्भीरो, विप्रसन्नो ह्यनाविलः।
एवं श्रुत्वा तथा धर्मान्, विप्रसीदन्ति पण्डिताः॥ ८२॥

८२. जैसे गम्भीर जलाशय (नीलसमुद्र) निर्मल एवं स्वच्छ होता है, वैसे ही पण्डितजन भी भगवदुपदिष्ट धर्मों को सुन कर सन्तुष्ट रहते हैं॥

८. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति, न कामकामा लपयन्ति सन्तो।
सुखेन फुट्ठा अथ वा दुखेन, नोउच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति॥ ८३॥

सर्वत्र वै सत्पुरुषास्त्यजन्ति, न कामकामा लपयन्ति सन्तः।
दुःखेन स्पृष्टा अथवा सुखेन, नोच्चावचं पण्डिता दर्शयन्ति॥ ८३॥

८३. सत्पुरुष छन्दराग छोड़ कर सभी धर्मों में अनासक्त रहते हुए साधना करते हैं। ये कामभोगों की इच्छा कर, व्यर्थ का अपलाप नहीं करते; उनका चाहे सुख से स्पर्श हो या दुःख से, ऐसे पण्डितजन अपने आचरण में किसी भी प्रकार का ऊँच नीच का विकार नहीं आने देते॥

९. धार्मिक स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

न अत्तहेतु न परस्स हेतु, न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो,
स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया॥ ८४॥

न स्वस्य हेतोर्न परस्य हेतोर्न पुत्रमिच्छेन्न धनं न राष्ट्रम्।
नेच्छेदधर्मेण समृद्धिमात्मनः, स शीलवान् पण्डितो धार्मिकः स्यात्॥ ८४॥

८४. जो मनुष्य न अपने लिये, न दूसरों के लिये, पुत्र धन या राष्ट्र की कामना न करता हो, न अधर्माचरणपूर्वक अपनी समृद्धि की ही कामना करता हो, ऐसा पुरुष ही धार्मिक, शीलवान् एवं प्रज्ञावान् कहलाता है॥

१०. धर्मश्रवणहेतु भिक्षुओं का उत्साहसंवर्धन : : श्रावस्ती के जेतवन में

अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति॥ ८५॥

अल्पकास्ते मनुष्येषु, ये जनाः पारगामिनः।
अथेयमितरा प्रजा, तीरमेवानुधावति॥ ८५॥

८५. संसार में जन्म लेने वाले ऐसे लोग बहुत कम हैं जो (धर्मसाधन द्वारा) इस संसार से पार जा सकते हों। अन्यथा दूसरे साधारण सांसारिक जन तो तीर (किनारे) पर ही दौड़ते रहते हैं॥

ये च खो सम्मदक्खाते, धम्मे धम्मानुवत्तिनो।
ते जना पारमेस्सन्ति, मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं॥ ८६॥

ये खलु सम्यगाख्याते, धर्मे धर्मानुदर्शिनः।
ते जनाः पारमेष्यन्ति, मृत्युधेयं सुदुस्तरम्॥ ८६॥

८६. परन्तु जो लोग भली प्रकार से उपदिष्ट धर्म का अनुगमन करते हैं, वे लोग अत्यधिक कठिनता से पार जाने योग्य मृत्यु के राज्य से पार चले जायँगें॥

११. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

कण्हं धम्मं विप्पहाय, सुक्कं भावेथ पण्डितो।
ओका अनोकमागम्म, विवेके यत्थ दूरमं॥ ८७॥

कृष्णं धर्मं विप्रहाय, सुधीः शुक्लं नु भावयेत्।
ओकादनोकमागत्य, विवेके यत्र दूरमम्॥ ८७॥

८७. बुद्धिमान् पुरुष कृष्ण (पाप) धर्म का परित्याग कर शुक्ल (पुण्यमय) धर्म का आचरण करे। वह गृहस्थ धर्म त्याग कर गृहविहीन अवस्था प्राप्त करे (प्रव्रजित हो जाय)। क्योंकि गृहस्थधर्म में रहते हुए एकान्त साधना कठिन होती है॥

तत्राभिरतिमिच्छेय्य, हित्वा कामे अकिञ्चनो।

परियोदपेय्य अत्तानं, चित्तक्लेसेहि पण्डितो॥ ८८॥

तत्राभिरतिमिच्छेद्वै, हित्वा कामानकिञ्चनः।
पर्यवदापयेत् स्वं वै, चित्तक्लेशैः स पण्डितः॥ ८८॥

८८. वह बुद्धिमान् पुरुष कामनाओं का परित्याग कर, अकिञ्चन (सर्वत्यागी) बन कर उस (प्रव्रज्या) में रत रहने की इच्छा करे। तथा इस प्रकार चित्तक्लेश (मनोविकार) दूर कर स्वयं को परिशुद्ध करे॥

येसं सम्बोधियङ्गेसु, सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदानपटिनिस्सग्गे, अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतिमन्तो, ते लोके परिनिब्बुता॥ ८९॥

सम्बोध्यङ्गेषु येषां च, सम्यक् चित्तं सुभावितम्।
आदान–प्रतिनिःसर्गे, अनुपादाय ये रताः।
क्षीणाश्रवा द्युतियुतास्ते लोके परिनिर्वृताः॥ ८९॥

पण्डितवग्गो निट्ठितो॥

८९. जिनका चित्त सम्बोधि-अङ्गों में सम्यक् प्रकार से अभ्यस्त हो चुका है, जो सांसारिक लाभ ग्रहण करने में अनासक्त होकर परिग्रह के त्याग में ही रत हैं, जिनके चित्तविकार प्रहीण हो चुके हैं, जो तेजस्वी बन चुके हैं, ऐसे साधक मनुष्य ही संसार से परिनिर्वाण प्राप्त कर पाये हैं॥

पण्डितवर्ग षष्ठ सम्पन्न॥

✿

७. अरहन्तवग्गो सत्तमो

७. अर्हद्वर्ग सप्तम

१. जीवक के प्रश्न का उत्तर : : राजगृह के जीवकाम्रवन में

गतद्धिनो विसोकस्स, विप्पमुत्तस्स सब्बधि।
सब्बगन्थप्पहीनस्स, परिळाहो न विज्जति॥ ९०॥

गताध्वनो विशोकस्य, विप्रमुक्तस्य सर्वतः।
सर्वग्रन्थप्रहीणस्य, परिदाहो न विद्यते॥ ९०॥

९०. जिसका मार्ग (संसार में आना जाना=भवपरम्परा) समाप्त हो चुका है, जो सर्वथा विमुक्त है, सब ग्रन्थियों से मुक्ति पा चुका है, उसके लिये कोई परिदाह (सन्ताप, जलन) नहीं रह जाता॥

२. महाकाश्यप स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो, न निकेते रमन्ति ते।
हंसा व पल्ललं हित्वा, ओकमोकं जहन्ति ते॥ ९१॥
यतन्ते स्मृतिमाधाय, रमन्ते न गृहेषु ते।
हंसवत् पल्वलं हित्वा ओकमोकं तरन्ति ते॥ ९१॥

९१. साधकजन स्मृतिमान् होकर अपनी साधना में निरत रहते हैं, वे गार्हस्थ्य में कोई आसक्ति नहीं रखते। जैसे स्वच्छ जलाशय में तैरने वाले राजहंस ग्राम के मलिन तडाग (जलाशय) का त्याग कर देते हैं; उसी तरह ऐसे साधक साधारण गृहस्थ परिवार में कोई आसक्ति नहीं रखते॥

३. वेलट्ठिसीस स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

येसं सन्निचयो नत्थि, ये परिञ्ञातभोजना।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च, विमोक्खो येसं गोचरो।
आकासे व सकुन्तानं, गति तेसं दुरन्नया॥ ९२॥
येषां सन्निचयो नास्ति, ये परिज्ञातभोजनाः।
शून्यतो ह्यनिमित्तश्च, विमोक्षो यस्य गोचरः।
नभसीव शकुन्तानां गतिस्तस्य दुरन्वया॥ ९२॥

९२. जो वस्तुओं का सञ्चय नहीं करते, जिनका भोजन परिज्ञात है, जिन्हें अनित्यता-रूप तथा निमित्तरहित मोक्ष दिखायी पड़ता है, उनकी वास्तविक गति उसी तरह कठिनता से जानी जा सकती है जैसे आकाश में पक्षियों के पदक्रम कठिनता से जाने जाते हैं॥

४. अनुरुद्ध स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

यस्सासवा परिक्खीणा, आहारे च अनिस्सितो।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च, विमोक्खो यस्स गोचरो।
आकासे व सकुन्तानं, पदं तस्स दुरन्नयं॥ ९३॥
यस्याश्रवाः परिक्षीणाः, आहारे खल्वनिःसृतः।
अनिमित्तः शून्यतश्च, विमोक्षो यस्य गोचरः।
शकुन्तानामिवाकाशे, पदं तस्य दुरन्वयम्॥ ९३॥

९३. जिसके चित्तविकार (आश्रव) क्षीण हो चुके हैं, जो आहार के प्रति सर्वथा अनासक्त है, जिसे शून्यता रूप तथा निमित्तरहित मोक्ष का साक्षात्कार हो चुका है उसकी गति

वैसे ही कठिनता से जानने योग्य है जैसे आकाश में उड़ने वाले पक्षी की गति कठिनता से जानी जाती है॥

५. महाकात्यायन स्थविर को : : श्रावस्ती के पूर्वाराम में

यस्सिन्द्रियानि समथङ्गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।
पहीनमानस्स अनासवस्स, देवा पि तस्स पिहयन्ति तादिनो॥ ९४॥

यस्येन्द्रियाणि शमथं गतानि, अश्वा यथा सारथिना सुदन्ताः।
प्रहीणमानस्य अनाश्रवस्य, देवा नु तस्मै स्पृहयन्ति तादृशे॥ ९४॥

९४. जिस प्रकार सारथि द्वारा अश्वों को नियन्त्रित रखा जाता है, उसी प्रकार जिस साधक की इन्द्रियाँ शान्त (चञ्चलतारहित) हो गयी हैं, ऐसे निरभिमान एवं आश्रवरहित भिक्षु के दर्शन की देवतागण भी स्पृहा (चाह) करते हैं॥

६. सारिपुत्र स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

पठविसमो नो विरुज्झति, इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो।
रहदो व अपेतकद्दमो, संसारा न भवन्ति तादिनो॥ ९५॥

पृथ्वीसमो न विरुध्यते, इन्द्रकीलोपमः सुव्रतस्तादृक्।
ह्रदवदपेतकर्दमः, संसारा न भवन्ति तादृशः॥ ९५॥

९५. जो साधक पृथ्वी के समान क्षुब्ध (आन्दोलित) नहीं होता, इन्द्रकील स्तम्भ के समान अपने व्रत में सुदृढ है, जो सरोवर के समान कर्दम (कीचड़=विकार) से रहित है, वैसे साधक पुरुष के लिये संसार के कृत्य बन्धनस्वरूप नहीं रह जाते॥

७. कौशाम्बी के तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सन्तं तस्स मनं होति, सन्ता वाचा च कम्म च।
सम्मदञ्ञा विमुत्तस्स, उपसन्तस्स तादिनो॥ ९६॥

शान्तं कर्म शमा, वाचा, शान्तं भवति तन्मनः।
सम्यग्ज्ञात्वाविमुक्तस्य, ह्युपशान्तस्य तादृशः॥ ९६॥

९६. जो साधक पुरुष सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान प्राप्त कर विमुक्त एवं उपशान्त हो गया है, उसका मन शान्त (स्थिर) रहता है, वाणी शान्त रहती है, तथा उसके कायिक कर्म भी शान्त ही रहते हैं॥

८. सारिपुत्र स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अस्सद्धो अकतञ्ञू च, सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो, स वे उत्तमपोरिसो॥ ९७॥

अश्रद्धश्चाकृतज्ञश्च, सन्धिच्छेदश्च यो नरः।
हतावकाशो वान्ताशः, स वै उत्तमपूरुषः॥ ९७॥

९७. जो (साधक) अन्धश्रद्धारहित है, अकृत (निर्वाण) को जानने वाला है, जिसके

सांसारिक बन्धन कट गये हैं, जिसकी जन्मपरम्परा अवकाशरहित (क्षीण) हो चुकी है, तथा जिसकी तृष्णा का समूल उच्छेद हो चुका है वही श्रेष्ठ पुरुष (पुरुषोत्तम) कहलाता है॥

९. खदिरवनीयरेवत स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

गामे वा यदि वारञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थ अरहन्तो विहरन्ति, तं भूमिरामणेय्यकं॥ ९८॥

ग्रामे वा यदि वारण्ये, निम्ने वा यदि वा स्थले।
अर्हन्तो यत्र विहरन्ति, सा भूमी रमणीयका॥ ९८॥

९८. जहाँ अर्हत् (ज्ञानी) जन वास करते हैं, फिर वह स्थान (भूमि) ग्राम हो या वन, ऊँचा (स्थल) हो या नीचा (जल), वह तो वस्तुतः रमणीय ही है॥

१०. किसी स्त्री को : : श्रावस्ती के जेतवन में

रमणीयानि अरञ्ञानि, यत्थ न रमती जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति, न ते कामगवेसिनो॥ ९९॥

अरहन्तवग्गो निट्ठितो॥

रमणीयान्यरण्यानि, न यत्र रमते जनः।
वीतरागा हि रंस्यन्ते, न ते कामगवेषिणः॥ ९९॥

९९. उन रमणीय अरण्यों में जहाँ साधारणजन रमण नहीं करते (रहने में रुचि नहीं रखते), वहाँ कामवासनाओं के पीछे न भटकने वाले वीतराग (निरासक्त) जन प्रसन्नतापूर्वक साधना में लगे रहते हैं॥

अर्हद्वर्ग सप्तम सम्पन्न॥

✿

८. सहस्सवग्गो अट्ठमो

८. सहस्त्रवर्ग अष्टम

१. ताम्रदंष्ट्रिक चौरघातक को : : राजगृह के वेणुवन में

सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता।
एकं अत्थपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥ १००॥

सहस्रमपि चेद्वाचो, ह्यनर्थपदसंहिताः।
एकमर्थपदं श्रेयः, श्रुत्वा यदुपशाम्यति॥ १००॥

१००. निरर्थक पदों से युक्त हजारों वचनों की अपेक्षा एक सार्थक पद ही श्रेयस्कर होता है; जिसे सुन कर जिज्ञासु को शान्ति मिलती है॥

२. बाह्यदारुचीविरक स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सहस्समपि चे गाथा, अनत्थपदसंहिता।
एकं गाथापदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥ १०१॥
सहस्रमपि चेद् गाथाः, अनर्थपदसंहिताः।
एकं गाथापदं श्रेयः, श्रुत्वा यदुपशाम्यति॥ १०१॥

१०१. निरर्थक पदों से युक्त हजारों गाथाओं की अपेक्षा एक सार्थक (अर्थयुक्त) गाथा का (एक) पाद भी श्रेयस्कर कहलाता है, जिसे सुन कर जिज्ञासु को आध्यात्मिक शान्ति मिलती है॥

३. कुण्डलकेशी स्थविरा को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो च गाथासतं भासे, अनत्थपदसंहिता।
एकं धम्मपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥ १०२॥
गाथाः शतं यो भाषेत, ह्यनर्थपदसंहिताः।
एकं धर्मपदं श्रेयः, श्रुत्वा यदुपशाम्यति॥ १०२॥

१०२. कोई मनुष्य निरर्थक पदों वाली एक सौ गाथाएँ कहे, तथा दूसरा कोई धर्मसम्पृक्त (गाथा का) एक पद (अंश) ही कहे तो उनमें यह एक धर्मपद ही श्रेयस्कर है, जिसके सुनने से जिज्ञासु के मन को शान्ति मिलती है॥

यो सहस्सं सहस्सेन, सङ्गामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं, स वे सङ्गामजुत्तमो॥ १०३॥
यः सहस्रं सहस्रेण, संग्रामे मानुषान् जयेत्।
जयेदात्मानमेकं च, स संग्रामजिदुत्तमः॥ १०३॥

१०३. कोई एकाकी पुरुष युद्ध में लाखों मनुष्यों को भले ही जीत ले; परन्तु वस्तुतः उससे बढ़ कर उसे युद्धविजेता कहना चाहिये जिसने पूर्णतः आत्मदमन कर लिया है॥

४. किसी अनर्थप्रष्टा ब्राह्मण को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।
अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं सञ्ञतचारिनो॥ १०४॥
आत्मा ह वै जितः श्रेयान्, या चेयमितरा प्रजा।
पुरुषस्यात्मदान्तस्य, नित्यं संयतचारिणः॥ १०४॥

१०४. अपने आत्मा (मन एवं इन्द्रियों) का दमन करने वाले तथा निरन्तर संयत आचरण रखने वाले के लिये इस साधारण प्रजा को जीतने की अपेक्षा अपनी इन्द्रियों को जीतना अधिक श्रेयस्कर है॥

नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो॥ १०५॥

नैव देवो न गन्धर्वो न मारो ब्रह्मणा सह।
जितमपजितं कुर्याज्जन्तोस्तु खलु तादृशः॥ १०५॥

१०५. ऐसे पुरुष के इस अपूर्व विजय को न कोई देवता, न कोई गन्धर्व, या मार तथा स्वयं ब्रह्मा भी पराजय में नहीं बदल सकते॥

५. सारिपुत्र के मामा ब्राह्मण को : : राजगृह के वेणुवन में

मासे मासे सहस्सेन, यो यजेथ सतं समं।
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सायेव पूजना सेय्या, यं चे वस्ससतं हुतं॥ १०६॥

मासे मासे सहस्रेण, यो यजेत शतं समाः।
एकं च भावितात्मानं, मुहूर्तमपि पूजयेत्।
श्रेयसी पूजना सैव, यन्न वर्षशतं हुतम्॥ १०६॥

१०६. कोई मनुष्य प्रतिमास प्रभूत दक्षिणा देता हुआ सौ वर्ष तक यज्ञ करे, दूसरी ओर कोई पुरुष परिशुद्धचेता किसी सन्त की एक क्षण ही पूजा। इन दोनों में यह सन्त की पूजा ही उन सौ वर्ष तक किये यज्ञों से श्रेष्ठ है॥

६. सारिपुत्र के भागिनेय ब्राह्मण को : : राजगृह के वेणुवन में

यो च वस्ससतं जन्तु, अग्गिं परिचरे वने।
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सायेव पूजना सेय्या, यं चे वस्ससतं हुतं॥ १०७॥

यश्च वर्षशतं जन्तुरग्निं परिचरेद् वने।
एकं च भावितात्मानं, मुहूर्तमपि पूजयेत्।
पूजना श्रेयसी सैव, न यद् वर्षशतं हुतम्॥ १०७॥

१०७. यदि कोई पुरुष सौ वर्ष तक वन में रह कर अग्निपरिचर्या (हवनकर्म या यज्ञकर्म) करता रहे; तथा दूसरी ओर, कोई साधक परिशुद्धचित्त भिक्षु का एक क्षण (मुहूर्त) सम्मान सत्कार करे तो यह पूजाकर्म उस सौ वर्ष तक निरन्तर किये गये यज्ञकर्म से श्रेष्ठ कहलाता है॥

७. किसी सहायक ब्राह्मण को : : राजगृह के वेणुवन में

यं किञ्चि यिट्ठं च हुतं च लोके, संवच्छरं यजेथ पुञ्ञपेक्खो।
सब्बं पि तं न चतुभागमेति, अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो॥ १०८॥

यत् किञ्चिदिष्टं च हुतं च लोके, संवत्सरं यजते पुण्यकांक्षः।
तत् सर्वमपि न चतुर्थांशमेति, श्रेयस्करी यार्जुगतेषु वन्दना॥ १०८॥

१०८. पुण्य की आकांक्षा करता हुआ पुरुष लोक में वर्षपर्यन्त कितने भी यज्ञ या हवन करे, तो भी वह किसी सरलचित्त पुरुष द्वारा की गयी पूजा वन्दना के चतुर्थ भाग की भी समानता नहीं कर पाता॥

८. आयुर्वर्धनकुमार को : : दीर्घलड्डिक नगर की अरण्यकुटी में

अभिवादनसीलिस्स, निच्चं वुड्ढापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं॥ १०९॥

अभिवादनशीलस्य, नित्यं वृद्धोपजीविनः।
चत्त्वारो धर्मा वर्धन्ते, आयुर्वर्णः सुखं बलम्॥ १०९॥

१०९. जो गुणिजनों की अभिवादन करता है तथा वृद्धजनों की पूजा करता है, उस सत्पुरुष के ये चार धर्म (गुण) बढ़ते ही रहते हैं—(१) आयु, (२) वर्ण, (३) सुख एवं (४) बल॥

९. सांकृत्य श्रामणेर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो च वस्ससतं जीवे, दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, सीलवन्तस्स झायिनो॥ ११०॥

यश्च वर्षशतं जीवेद्, दुश्शीलश्चासमाहितः।
एकाहो जीवितं श्रेयः, शीलिनो ध्यायिनस्तथा॥ ११०॥

११०. किसी मनुष्य का दुराचारी एवं चञ्चल चित्त होकर सौ वर्ष जीवित रहने की अपेक्षा एक मुहूर्तमात्र तक शीलवान् एवं ध्यानरत रहना ही अधिक श्रेयस्कर है॥

१०. खाणुकोण्डञ्ञ स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो च वस्ससतं जीवे, दुप्पञ्ञो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पञ्ञवन्तस्स झायिनो॥ १११॥

यश्च वर्षशतं जीवेद्, दुष्प्रज्ञश्चासमाहितः।
एकाहो जीवितं श्रेयः, प्रज्ञायुक्तस्य ध्यायिनः॥ १११॥

१११. दुर्बुद्धि एवं असंयतेन्द्रिय होकर सौ वर्ष तक जीवनयापन की अपेक्षा प्रज्ञासम्पन्न एवं ध्यानभावना में रत रह कर एक दिन का जीवन अधिक श्रेयस्कर है॥

११. सर्पदास स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो च वस्ससतं जीवे, कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, विरियमारभतो दळ्हं॥ ११२॥

यश्च वर्षशतं जीवेत् कुसीदो हीनवीर्यवान्।
एकाहो जीवितं श्रेयो वीर्यमारभतो दृढम्॥ ११२॥

११२. आलस्ययुक्त एवं उदयोगरहित पुरुष का सौ वर्ष तक जीना सर्वथा निरर्थक है। इसके विपरीत, द्विविध ध्यान में दृढतापूर्वक वीर्यसम्पन्न रह कर एक दिन का जीवन ही श्रेयस्कर है॥

१२. पटाचारा भिक्षुणी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं उदयब्बयं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो उदयब्बयं॥ ११३॥

यश्च वर्षशतं जीवेद्, अपश्यँश्चोदयव्ययम्।
एकाहो जीवितं श्रेयः पश्यतो ह्युदयव्ययम्॥ ११३॥

११३. पञ्चस्कन्धों (सांसारिक पदार्थों) के उत्पाद एवं विनाश को न समझने वाले (अज्ञानी पुरुष) का सौ वर्ष तक जीना निरर्थक ही है। इसकी अपेक्षा उसी का जीवन श्रेष्ठ माना जाना चाहिये जो एक दिन भी उक्त पाँचों स्कन्धों के उत्पाद एवं विनाश की वास्तविकता पहचानने का प्रयास करता है॥

१३. कृशा गौतमी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो अमतं पदं॥ ११४॥

यश्च वर्षशतं जीवेद्, अपश्यन्नमृतं पदम्।
एकाहो जीवितं श्रेयः, पश्यतो ह्यमृतं पदम्॥ ११४॥

११४. उत्तम पद (निर्वाण) का साक्षात्कार न करते हुए प्राणी का सौ वर्ष तक जीवित रहना भी निरर्थक ही है। यदि कोई इस उत्तम पद का साक्षात्कार करने के बाद, एक दिन भी जीवित रहता है तो वही श्रेष्ठ है॥

१४. बहुपुत्रिका थेरी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं धम्ममुत्तमं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो धम्ममुत्तमं॥ ११५॥

यश्च वर्षशतं जीवेद्, अपश्यन् धर्ममुत्तमम्।
एकाहो जीवितं श्रेयः पश्यतो धर्ममुत्तमम्॥ ११५॥

सहस्सवग्गो निट्ठितो॥

११५. यदि कोई मनुष्य बुद्धोपदिष्ट उत्तम धर्म का अनुसन्धान न करते हुए सौ वर्ष के दीर्घकाल तक जीवित रहता है तो उसका वह दीर्घ जीवन निरर्थक ही है। हाँ, यदि कोई उस उत्तम धर्म का मनन करने में एक दिन भी अपना चित्त लगाता है तो उसका वह एक दिन का जीवन ही (बुद्धिमानों की दृष्टि में) श्रेयस्कर माना जाता है॥

सहस्रवर्ग अष्टम सम्पन्न॥

✿

९. पापवग्गो नवमो

९. पापवर्ग नवम

१. क्षुद्रैकशाटक ब्राह्मण को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अभित्थरेथ कल्याणे, पापा चित्तं निवारये।
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं, पापस्मिं रमती मनो॥ ११६॥

त्वरां कुर्याद्धि कल्याणे, पापाच्चित्तं निवारयेत्।
मन्दं हि कुर्वतः पुण्यं, पापे हि रमते मनः॥ ११६॥

११६. साधक को अपने कल्याणमय कार्यों की पूर्ति हेतु शीघ्रता करनी चाहिये। क्योंकि यदि साधक अपने इन कल्याणकारी कार्यों की पूर्ति में आलस्य करेगा तो उसका मन, विपरीत दशा में चल कर, पापमय कर्मों में व्यापृत हो जायगा॥

२. श्रेयस्क स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

पापं चे पुरिसो कयिरा, न नं कयिरा पुनप्पुनं।
न तम्हि छन्दं कयिराथ, दुक्खो पापस्स उच्चयो॥ ११७॥

पापं चेत् पुरुषः कुर्यान्न तत् कुर्यात् पुनः पुनः।
न तस्मिन् स्वैरितां कुर्याद् दुःखं पापस्य तूच्छ्रयः॥ ११७॥

११७. यदि साधक से विवशतावश या प्रमाद के कारण कोई पापकार्य हो ही जाय तो उसे पुनः पुनः दोहराने की भूल नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उस पापमय कार्य को पुनः पुनः स्वच्छन्दतापूर्वक करने से उस पाप का सञ्चय होने लगता है। यह पापसञ्चय उसके लिये परिणाम में दुःखदायी ही होगा॥

३. लाजदेवधीता को : : श्रावस्ती के जेतवन में

पुञ्ञं चे पुरिसो कयिरा, कयिरा नं पुनप्पुनं।
तम्हि छन्दं कयिराथ, सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो॥ ११८॥

पुण्यं चेत् पुरुषः कुर्यादेतत् कुर्यात् पुनः पुनः।
तस्मिंश्च छन्दं कुर्यात् स सुखं पुण्यस्य चोच्छ्रयः॥ ११८॥

११८. इसके विपरीत, यदि साधक किसी पुण्यमय कार्य में प्रवृत्त हो तो उस कार्य को पुनः पुनः करने की चेष्टा करनी चाहिये। उस पुण्यमय कार्य में स्वच्छन्दतापूर्वक तत्पर रहे जिससे उसके पुण्य का सञ्चय हो। ऐसे पुण्य का सञ्चय उसके लिये परिणाम में हितकर ही होता है॥

४. अनाथपिण्डिक श्रेष्ठी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

पापो पि पस्सति भद्रं, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, अथ पापो पापानि पस्सति॥ ११९॥

भद्रं पश्यति पापोऽपि, यावत् पापं न पच्यते।
यदा च पच्यते पापम् (अथ) पापः पापानि पश्यति॥ ११९॥

११९. तभी तक पापकर्ता को अपने पापकर्मों में भी अच्छाई दीखती है जब तक पापों का परिणाम सामने नहीं आता। परिणाम सामने आने पर उस पाप की भयानकता उसको स्पष्ट दृष्टिगोचर हो पाती है॥

भद्रो पि पस्सति पापं, याव भद्रं न पच्चति।
यदा च पच्चति भद्रं, अथ भद्रो भद्रानि पस्सति॥ १२०॥
पापं पश्यति भद्रोऽपि, यावद् भद्रं न पच्यते।
यदा च पच्यते भद्रम्, (अथ) भद्रो भद्राणि पश्यति॥ १२०॥

१२०. इसी तरह पुण्यकर्ता भी तब तक पापकर्मों को महत्त्व देता रहता है जब तक उसके द्वारा किये गये पुण्य कर्मों का परिणाम उसके सम्मुख नहीं आता। उन पुण्य कर्मों का शुभ परिणाम सामने आने पर, वह भी एकान्ततः पुण्यकर्मों को ही महत्त्व देने लगता है॥

५. असंयतपरिष्कार भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

माप्पमञ्ञेथ पापस्स, न मं तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भो पि पूरति।
बालो पूरति पापस्स, थोकथोकम्पि आचिनं॥ १२१॥
मावमन्येत[१] पापं वै, न मामेतद्धि पक्ष्यति।
उदबिन्दुनिपातेन, ह्युदकुम्भोऽपि पूर्यते॥
बालः पूरयते पापमाचिन्वन् स्तोकमप्यथ॥ १२१॥

१२१. कोई मनुष्य किसी साधारण पाप की भी इसलिये अवहेलना न करे कि वह साधारण है, उसका क्या दुष्परिणाम होगा! क्योंकि, जैसे हम लोक में देखते हैं कि जल की बूँद बूँद से घड़ा भर जाता है; वैसे ही मूर्खजनों द्वारा किये जाते हुए अल्प पापकर्मों की भी, समय आने पर, विशाल राशि बन जाती है॥

६. विडालपाद श्रेष्ठी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

माप्पमञ्ञेथ 'पुञ्ञस्स, न मं तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भो पि पूरति।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स, थोकथोकम्पि आचिनं॥ १२२॥
मावमन्येत[१] पुण्यं वै, न मामेतद्धि पक्ष्यति।
उदबिन्दुनिपातेन, ह्युदकुम्भोऽपि पूर्यते।
बालः पूरयते पुण्यमाचिन्वन् स्तोकमप्यथ॥ १२२॥

---

१. माल्पं मन्येत–पाठा०। एवमग्रिमश्लोकेऽपि।

१२२. बुद्धिमान् साधक किसी अल्प पुण्यकार्य की, यह सोच कर, अवहेलना न करे कि इस अल्प पुण्य का मुझे क्या फल मिलेगा! क्योंकि, अभी हमने कहा न कि जल की बूँद बूँद से भी घड़ा भर जाया करता है, अतः धैर्यपूर्वक किये गये इन छोटे छोटे पुण्यकर्मों की भी, समय आने पर, विशाल राशि बन जाना सम्भव है॥

७. महाधन वणिक् को : : श्रावस्ती के जेतवन में

वाणिजो व भयं मग्गं, अप्पसत्थो महद्धनो।
विसं जीवितुकामो व, पापानि परिवज्जये॥ १२३॥

वणिग्वत् सभयं मार्गमल्पसार्थो महद्धनः।
विषवज्जीवितं वाञ्छन् पापानि परिवर्जयेत्॥ १२३॥

१२३. जैसे कोई बड़ा व्यापारी, अल्प सङ्ख्या में रक्षकों के होने पर, अपने धन की रक्षाहेतु, भयजनक मार्ग से यात्रा नहीं करता; उसी तरह, जीना चाहने वाला कोई भी बुद्धिमान् पुरुष इन विषमय परिणाम वाले पापकर्मों के करने में प्रवृत्त नहीं होता॥

८. कुक्कुटमित्र निषाद को : : राजगृह के वेणुवन में

पाणिम्हि चे वणो नास्स, हरेय्य पाणिना विसं।
नाब्बणं विसमन्वेति, नत्थि पापं अकुब्बतो॥ १२४॥

पाणौ यदि व्रणं नास्य, स हरेत् पाणिना विषम्।
नाव्रणं विषमन्वेति, नास्ति पापमकुर्वतः॥ १२४॥

१२४. यदि मनुष्य के हाथ में कोई व्रण (घाव=कटा पिटा होना) न हो तो वह उस हाथ से कोई भी विषसम्पृक्त (जहरीली) वस्तु उठा सकता है; क्योंकि विना व्रण वाले हाथ पर विष का कोई दुष्प्रभाव नहीं होता। उसी तरह, पापकर्म न करने वाले को पाप का फल नहीं भोगना पड़ता॥

९. कोकसुनख लुब्धक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति, सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति पापं, सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो॥ १२५॥

यो ह्यप्रदुष्टाय नराय दुष्यति, शुद्धाय सत्त्वाय निरञ्जनाय।
प्रत्येति पापं नु तदेव बालं, यथा हि सूक्ष्मः प्रतिवातरेणुः॥ १२५॥

१२५. जो मूर्ख मनुष्य निर्दोष, सच्चरित्र, निर्मल पुरुष पर मिथ्या दोषारोपण करता है तो यह पापकर्म उस मूर्ख मनुष्य का उसी प्रकार अनुगमन करता है, जिस प्रकार, सूक्ष्म धूल हवा के विपरीत फेंकी जाने पर, फेंकने वाले का अनुगमन करती है॥

१०. मणिकारकुलोपग तिष्यस्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

गब्भमेके उप्पज्जन्ति, निरयं पापकम्मिनो।
सग्गं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा॥ १२६॥

उत्पद्यन्ते गर्भमेके, निरयं पापिनस्तथा।
स्वर्गं सुगतयो यन्ति, परिनिर्वान्त्यनाश्रवाः॥ १२६॥

१२६. यह मनुष्यजन्म प्राप्त कर, पापकर्म करने वाले कुछ पुरुष उन पापों के कारण नरक में जा गिरते हैं। तथा कुछ सत्कर्म करने वाले, निर्दोषजन उन सत्कर्मों के प्रभाव से सुगतिमय स्वर्ग में जाते हैं और अन्त में वे उसी पुण्य के प्रभाव से निर्वाण भी प्राप्त कर लेते हैं॥

११. तीन जिज्ञासुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितो मुच्चेय्य पापकम्मा॥ १२७॥

न ह्यन्तरिक्षे न समुद्रमध्ये, न पर्वतानां विवरं प्रविश्य।
न विद्यते स जगति प्रदेशो, यतो हि मुच्येत नु पापकर्मणः॥ १२७॥

१२७. न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों की गुफा में, ऐसा कोई (गुप्त) स्थान है, जहाँ छिप कर बैठने पर कोई पापकर्म करने वाला स्वकृत पापकर्मों से मुक्ति प्राप्त कर सके॥

१२. सुप्रबुद्ध शाक्य को : : न्यग्रोधाराम (कपिलवस्तु) में

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितं नप्पसहेय्य मच्चु॥ १२८॥ ●

पापवग्गो निट्ठितो॥

न ह्यन्तरिक्षे न समुद्रमध्ये, न पर्वतानां विवरं प्रविश्य।
न विद्यते स जगति प्रदेशो, यतो हि मुच्येत नु मृत्युपाशात्॥ १२८॥

१२८. आकाश में, समुद्र के मध्य में, या पर्वतों की गुफाओं में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ छिप कर बैठने पर भी, मृत्यु से पीछा छुड़ाया जा सके; क्योंकि मृत्यु की सर्वत्र पहुँच है॥

पापवर्ग नवम समाप्त॥

✿

१०. दण्डवग्गो दसमो

१०. दशम दण्डवर्ग

१. षड्वर्गीय भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥ १२९॥

सर्वे त्रस्यन्ति दण्डाद्वै, सर्वे बिभ्यति मृत्युतः।
आत्मानमुपमां कृत्वा, न हन्यान्न च घातयेत्॥ १२९॥

१२९. सभी मनुष्य दण्ड से भय मानते हैं। तथा सभी मनुष्य मृत्यु से भी भय मानते हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुष को अपने समान सभी को मान कर न किसी की हत्या करनी चाहिये, तथा न किसी को उस हत्या के लिये प्रेरित करना चाहिये॥

२. षड्वर्गीय भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥ १३०॥

सर्वे त्रस्यन्ति दण्डाद्वै, सर्वेषां जीवितं प्रियम्।
आत्मानमुपमां कृत्वा, न हन्यान्न च घातयेत्॥ १३०॥

१३०. सभी मनुष्य दण्ड से भय मानते हैं। तथा सभी मनुष्यों को अपना जीवन प्रिय है। अतः अपने समान सभी को जानते हुए (बुद्धिमान्) पुरुष को न स्वयं किसी की हत्या करनी चाहिये, न ऐसी हत्या के लिये किसी को प्रेरित करना चाहिये॥

३. बहुत से कुमारों को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो न लभते सुखं॥ १३१॥

सुखकामानि भूतानि, दण्डेन हि हिनस्ति यः।
आत्मनः सुखमिच्छन् स न प्रेत्य लभते सुखम्॥ १३१॥

१३१. जो मनुष्य सुखलिप्सु प्राणियों को, अपना सुख चाहता हुआ, दण्ड द्वारा प्रताडित करता है, वह मर (अन्य योनि में जा) कर भी सुख नहीं पा सकता॥

सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न हिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो लभते सुखं॥ १३२॥

सुखकामानि भूतानि, दण्डेन न हिनस्ति यः।
आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रेत्य वै लभते सुखम्॥ १३२॥

१३२. तथा जो मनुष्य सुखलिप्सु प्राणियों को, अपना सुख चाहता हुआ भी दण्ड द्वारा प्रताडित नहीं करता, वह मर (अन्य योनि में उत्पन्न हो) कर भी सुख ही प्राप्त करता है॥

४. कोण्डधान स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

मावोच फरुसं कञ्चि, वुत्ता पटिवदेय्यु तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा, पटिदण्डा फुसेय्यु तं॥ १३३॥

मा वोचः परुषं किञ्चित्, त्वां वक्ष्यन्ति तथैव ते।
दुःखा हि संरम्भकथाः, त्वां स्पृशेयुः सदण्डकाः॥ १३३॥

१३३. किसी को भी कठोर वाणी का प्रयोग नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसी वाणी का प्रयोग जिनके लिये किया जायगा वे भी तुम्हें वैसा ही उत्तर (कठोर वाणी में) दे सकते हैं। ये कठोर वचन इतने दुःखदायी होते हैं कि इनसे (वक्ता एवं श्रोता) दोनों ही पक्षों में प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत् हो सकती है। वह तुम्हें भी सतायेगी॥

सचे नेरेसि अत्तानं, कंसो उपहतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बानं, सारम्भो ते न विज्जति॥ १३४॥

नेर्यसे चेत्त्वमात्मानं, कांस्यमुपहतं यथा।
एष प्राप्तोऽसि निर्वाणं, संरम्भस्ते न विद्यते॥ १३४॥

१३४. यदि तुम स्वयं को फूटे हुए कांस्य पात्र के समान निःशब्द कर लो, तभी तुम निर्वाणप्राप्ति की ओर बढ़ सकोगे। तथा तुम में उक्त प्रतिहिंसा भी जाग्रत् न होगी॥

५. उपोसथव्रतधारिका स्त्रियों को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यथा दण्डेन गोपालो, गावो पाजेति गोचरं।
एवं जरा च मच्चु च, आयुं पाजेन्ति पाणिनं॥ १३५॥

यथा दण्डेन गोपालो गाः प्राजयति गोचरम्।
एवं जरा च मृत्युश्चायुः प्राजयति देहिनाम्॥ १३५॥

१३५. जैसे कोई गोपाल (ग्वाला) अपनी गायों को डण्डे के सहारे से एकत्र रख कर चराने के लिये खेतों में ले जाता है, इसी तरह वृद्धावस्था (जरा) एवं मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाती है॥

६. अजगरप्रेत को : : राजगृह के वेणुवन में

अथ पापानि कम्मानि, करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो, अग्गिदड्ढो व तप्पति॥ १३६॥

अथ पापानि कर्माणि, कुर्वन् बालो न बुध्यते।
स्वकर्मभिश्च दुर्मेधास्तप्यते ह्यग्निदग्धवत्॥ १३६॥

१३६. पापकारी मूर्ख मनुष्य पाप की गम्भीरता को नहीं समझ पाता। वह दुर्बुद्धि स्वकृत पापकर्मों से उसी प्रकार पीड़ित रहता है जैसे अग्नि से जला हुआ प्राणी पीड़ित रहा करता है॥

७. महामौद्गल्यायन स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

यो दण्डेन अदण्डेसु, अप्पदुट्ठेसु दुस्सति।
दसन्नमञ्ञतरं ठानं, खिप्पमेव निगच्छति॥ १३७॥
दण्डेन यो ह्यदण्ड्येषु, अप्रदुष्टेषु दुष्यति।
दशस्वन्यतमं स्थानं, क्षिप्रमेव निगच्छति॥ १३७॥

१३७. जो दुर्बुद्धि पुरुष दण्ड न देने योग्य निर्दोष पुरुषों को भी त्रस्त करता रहता है, वह, समय आने पर, इन दश कष्टदायक स्थितियों में से किसी न किसी से अवश्य घिर जाता है॥

वेदनं फरुसं जानिं, सरीरस्स च भेदनं।
गरुकं वा पि आबाधं, चित्तक्खेपं व पापुणे॥ १३८॥
वेदनां परुषां हानिं, शरीरस्य च भेदनम्।
आबाधं वा हि गुरुकं, चित्तक्षेपं च प्राप्नुयात्॥ १३८॥

१३८. वे दश स्थितियाँ कौन सी हैं? (१) भयङ्कर पीड़ा, (२) आर्थिक या शारीरिक हानि, (३) शरीर की पीड़ा, (४) गम्भीर रोग, (५) उन्माद (पागलपन)॥

राजतो वा उपसग्गं, अब्भक्खानं च दारुणं।
परिक्खयं च ञातीनं, भोगानं च पभङ्गुरं॥ १३९॥
उपसर्गं राजतो वा, अभ्याख्यानं हि दारुणम्।
परिक्षयं वा ज्ञातीनां, भोगानां वा प्रभञ्जनम्॥ १३९॥

१३९. अथवा (६) राजा से दण्ड, (७) लोक में भयानक (दारुण) निन्दा, (८) अथवा सम्बन्धिजनों में किसी विशिष्ट सम्बन्धी का विनाश, (९) या भोग्य वस्तुओं का अकारण नाश॥

अथ वास्स अगारानि, अग्गि डहति पावको।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो, निरयं सोपपज्जति॥ १४०॥
अथ वास्य ह्यगाराणि, अग्निर्दहति पावकः।
कायस्य भेदाद् दुष्प्रज्ञो, निरयं ह्युपपद्यते॥ १४०॥

१४०. या (१०) इसके वासस्थान में अकस्मात् भयङ्कर अग्नि लग जाय, जिसके कारण इसका सब कुछ भस्म हो जाय। ऐसा दुर्बुद्धि पुरुष देहपात (मृत्यु) के बाद, नरक में भी गिरेगा—यह सुनिश्चित है॥

८. बहुभाण्डक भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

न नग्गचरिया न जटा न पङ्का, नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोजल्लं उक्कुटिकप्पधानं, सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं॥ १४१॥
न नग्नचर्या न जटा न पङ्कः, तथोपवासः खलु भूमिशय्या।

रजोजलं नोत्कटिकप्रधानं विशोधयेन्मर्त्यमतीर्णकांक्षम्॥ १४१॥

१४१. जिस मनुष्य के मन की मोहवासनाएँ (आकांक्षाएँ) पूर्ण नहीं हो गयी हों, ऐसा मनुष्य केवल नग्न रह कर, जटा बढ़ा कर, शरीर पर कर्दम (कीचड़ या भस्म) लपेट कर, उपवास रख कर, भूमि पर शयन कर, धूल लपेट कर, निरन्तर उकडू बैठ कर अपनी शुद्धि नहीं कर सकता॥

९. सन्तति महामात्य को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अलङ्कतो चे पि समं चरेय्य, सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु॥ १४२॥

अलंकृतश्चापि शमं चरेद्यः, शान्तो दान्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सर्वेषु भूतेषु निधाय दण्डं, स ब्राह्मणः स श्रमणः स भिक्षुः॥ १४२॥

१४२. इसके विपरीत, जो मनुष्य अलंकृत रहता हुआ भी लोक में शान्तिपूर्वक विचरण करता है, काय वाक् एवं मन से शान्त, जितेन्द्रिय, संयम एवं ब्रह्मचर्य (धर्मसाधना) का पालक, तथा समस्त प्राणियों पर दण्ड का प्रहार करना त्याग चुका है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है और वही 'भिक्षु' कहलाने योग्य है॥

१०. पिलोतिक तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

हिरीनिसेधो पुरिसो, कोचि लोकस्मि विज्जति।
यो निन्दं अपबोधेति, अस्सो भद्रो कसामिव॥ १४३॥

ह्रीनिषेधो न पुरुषः, कश्चिल्लोके हि विद्यते!।
यो निन्दां न प्रबोधयति, अश्वो भद्रः कशामिव॥ १४३॥

१४३. क्या इस लोक में ऐसा भी कोई सलज्ज (लज्जावान्) पुरुष है जो निन्दा को उसी प्रकार सहन नहीं कर पाता जैसे कोई अच्छी जाति का घोड़ा चाबुक की मार सहन नहीं कर पाता!॥

अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो, आतापिनो संवेगिनो भवाथ।
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च, समाधिना धम्मविनिच्छयेन च।
सम्पन्नविज्जाचरणा पतिस्सता, पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकं॥ १४४॥

भद्रो यथाश्वः कशया निविष्टः, आतापसंवेगयुता भवेयुः।
शीलेन वीर्येण च श्रद्धया वा, समाधिना धर्मविनिश्चयेन।
सम्पन्नविद्याचरणा प्रतिस्मृता जहास्यथ दुःखमिदं ह्यनल्पकम्॥ १४४॥

१४४. जैसे चाबुक की मार खाया हुआ घोड़ा उचित चाल चलने लगता है उसी प्रकार तुम पश्चात्ताप करने वाले तथा संवेगशील बनने का प्रयास करो। तभी तुम श्रद्धा, सदाचरण, सामर्थ्य, समाधि एवं धर्म के विनिश्चय से युक्त होकर, विद्या एवं आचरण से समन्वित रहते हुए, पूर्ण स्मृति के साथ इस महान् दुःखार्णव को पार कर सकोगे॥

११. सुख श्रामणेर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति सुब्बता॥ १४५॥

दण्डवग्गो निट्ठितो॥

उदकं हि नयन्ति नेतृकाः, इषुकारा नमयन्ति तेजनम्।
नमयन्ति हि दारु तक्षकाः, आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः॥ १४५॥

१४५. मनुष्य नहरें बना कर जल ले जाते हैं। बाण के निर्माता टेढ़े बाण को सीधा कर लेते हैं। बढई भी बाँकी सीधी लकड़ी को अपने उपयोग में आने योग्य बना लेते हैं। इसी प्रकार, बुद्धिमान् पुरुष भी आत्मसंयम करने में समर्थ हैं॥

दशम दण्डवर्ग सम्पन्न॥

✿

११. जरावग्गो एकादसमो

११. जरावर्ग एकादश

१. विशाखा की सहायिकाओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेसथ॥ १४६॥

को नु हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति!
अन्धकारावृता यूयं गवेषयथ दीपकम्॥ १४६॥

१४६. जब सर्वत्र नित्य (निरन्तर) अग्नि प्रज्वलित दिखायी दे रही हो तब यह हर्ष किस बात का, तथा आनन्द किस बात का? जब तुम अन्धकारावृत हो तो उस अन्धकार की निवृत्ति के लिये दीपक की गवेषणा (खोज) क्यों नहीं करते!

२. सिरिमा गणिका को : : राजगृह के वेणुवन में

पस्स चित्तकतं बिम्बं, अरुकायं समुस्सितं।
आतुरं बहुसङ्कप्पं, यस्स नत्थि धुवं ठिति॥ १४७॥

पश्य चित्रकृतं बिम्बमरुष्कायं समुच्छ्रितम्।

आतुरं बहुसङ्कल्पं, यस्य नास्ति ध्रुवा स्थितिः॥ १४७॥

१४७. चित्रलिखित के समान इस शरीर को देखो जो व्रणों से युक्त है, सर्वत्र शोथयुक्त (फूला हुआ) है, पीड़ित है, विविध सङ्कल्प विकल्पों से पूर्ण है। इसे देखते हुए यहाँ किसकी स्थायी स्थिति की कल्पना करें!॥

३. उत्तरा थेरी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

परिजिण्णमिदं रूपं, रोगनीळं पभङ्गुरं।
भिज्जति पूतिसन्देहो, मरणन्तं हि जीवितं॥ १४८॥

परिजीर्णमिदं रूपं रोगनीडं प्रभङ्गुरम्।
भिद्यते पूतिसन्देहो मरणान्तं हि जीवितम्॥ १४८॥

१४८. यह रूप जराजीर्ण है, रोगों का नीड (घोंसला) है, क्षणभङ्गुर है, दुर्गन्ध की राशि है! यह शरीर अन्त में खण्डशः विभक्त हो जाता है। इस जीवन की सत्ता मृत्युपर्यन्त ही मानी जाती है॥

४. बहुत से अधिमानिक भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यानिमानि अपत्थानि, अलाबूनेव सारदे।
कापोतकानि अट्ठीनि, तानि दिस्वान का रति॥ १४९॥

इमानि यान्यपास्तानि, अलाबूनीव शारदे।
कपोतवर्णान्यस्थीनि, तानि दृष्ट्वा नु का रतिः!॥ १४९॥

१४९. शरदृतु की लौकी के समान फैंक दी गयी, कबूतर (कपोत) पक्षी के वर्ण वाली इन अस्थियों की वास्तविकता जानने के बाद इनमें स्नेह (आसक्ति) कैसा!॥

५. रुपनन्दा थेरी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अट्ठीनं नगरं कतं, मंसलोहितलेपनं।
यत्थ जरा च मच्चु च, मानो मक्खो च ओहितो॥ १५०॥

अस्थ्नामस्ति पुरं ह्येतत्, मांसलोहितलेपनम्।
जरा यत्र च मृत्युश्च, मानो म्रक्षः प्रतिष्ठितः॥ १५०॥

१५०. मानो यह अस्थियों (हड्डियों) का एक नगर बना हुआ है, जो रक्त एवं मांस से लीप दिया गया है। इसमें वृद्धावस्था, मृत्यु, अभिमान एवं असूया (म्रक्ष) अपना वास बनाये हुए हैं॥

६. मल्लिका देवी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता, अथो सरीरं पि जरं उपेति।
सतं च धम्मो न जरं उपेति, सन्तो हवे सब्भि पवेदयन्ति॥ १५१॥

जीर्यन्ति वै राजरथाः सुचित्राः, एतच्छरीरं जरया ह्युपेतम्।
सतां तु धर्मो न जरामुपैति, सभ्या हवै सत्पुरुषा वदन्ति॥ १५१॥

१५१. जैसे राजाओं के चित्र विचित्र रथ समय पाकर जीर्ण हो जाते हैं, उसी तरह हमारे ये शरीर भी एक दिन वृद्धावस्था से घिर जाते हैं। हाँ, सज्जनों द्वारा उपदिष्ट धर्म कभी वृद्धावस्था (जीर्णता) को प्राप्त नहीं होते—यह बात सज्जनों ने ही अन्य सज्जनों को बतायी है॥

७. लाडुदायी स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अप्पस्सुतायं पुरिसो, बलिबद्दो व जीरति।
मंसानि तस्स वड्ढन्ति, पञ्ञा तस्स न वड्ढति॥ १५२॥

अल्पश्रुतोऽयं पुरुषो जीर्यते बलिवर्दवत्।
वर्धन्ते तस्य मांसानि, प्रज्ञा त्वस्य न वर्धते॥ १५२॥

१५२. यह अल्पश्रुत (अल्पज्ञानी) पुरुष बैल के समान बढ़ता है तथा एक दिन जीर्ण हो जाता है। इसका केवल मांस ही बढ़ता है, प्रज्ञा (हिताहितविवेकिनी बुद्धि) नहीं बढ़ पाती॥

८. आनन्द स्थविर को : : बोधिवृक्ष के नीचे

अनेकजातिसंसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारं गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥ १५३॥

अनेकजातिसंसारमधाविषमितस्ततः।
गृहकारं गवेषयन्, दुःखा जातिः पुनः पुनः॥ १५३॥

१५३. मैं इस शरीर रूप घर को बनाने वाले की खोज करता हुआ, किसी लक्ष्यप्राप्ति के विना ही, इस संसार में अनेक जन्मों तक इधर उधर दौड़ता रहा। यहाँ इस तरह पुनः पुनः जन्म लेना वस्तुतः दुःखदायी है॥

गहकारक दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूटं विसङ्खतं।
विसङ्खारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा॥ १५४॥

गृहकारक! दृष्टोऽसिं, (पुनः) गेहं नैव करिष्यसि!
सर्वास्ते पार्शुका भग्नाः, गृहकूटं विसंस्कृतम्।
विसंस्कारगतं चित्तं, तृष्णानां क्षयमध्यगात्॥ १५४॥

१५४. हे गृहनिर्माता! मैने तुमको देख लिया है, पहचान लिया है। अब तुम पुनः यह गृहनिर्माण न कर सकोगे। तुम्हारी बनायी हुई कड़ियाँ टूट चुकी हैं, तथा गृहशिखर गिर चुका है। मेरा चित्त संस्काररहित हो चुका है। साथ ही मेरी सर्वविध तृष्णाएँ भी क्षीण हो चुकी हैं॥

९. महाधन श्रेष्ठिपुत्र को : : ऋषिपतन के मृगदाव में

अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योब्बने धनं।

जिण्णकोञ्चा व झायन्ति, खीणमच्छे व पल्लले॥ १५५॥

अचरित्वा ब्रह्मचर्यम्, अलब्ध्वा यौवने धनम्।
जीर्णक्रौञ्चाः क्षीणमत्स्ये यथा ध्यायन्ति पल्वले॥ १५५॥

१५५. जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य का पालन (धर्मसाधना) नहीं किया, तथा युवावस्था में वित्त का अर्जन भी नहीं किया, वे वृद्धावस्था आने पर उसी तरह चिन्तित रहते हैं जैसे मत्स्यरहित किसी जलाशय के किनारे पर वृद्ध क्रौञ्च पक्षी चिन्तित मुद्रा में बैठा रहता है॥

अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योब्बने धनं।
सेन्ति चापातिखीणा व, पुराणानि अनुत्थुनं॥ १५६॥

जरावग्गो निट्ठितो॥

अचरित्वा ब्रह्मचर्यम्, अलब्ध्वा यौवने धनम्।
पुराणान्येव स्तुन्वन्तः शेरते भग्नचापवत्॥ १५६॥

१५६. जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य (धर्म) का पालन नहीं किया, तथा युवावस्था में वित्त का भी अर्जन नहीं किया, ऐसे लोग टूटे हुए धनुषों के समान अपने अतीत की प्रशंसा करते हुए, बुढ़ापे में एकान्त में पड़े रह कर, अपना समययापन करते हैं॥ ●

जरावर्ग एकादश सम्पन्न॥

✿

१२. अत्तवग्गो द्वादसमो

१२. आत्मवर्ग द्वादश

१. बोधिराजकुमार को : : भेषकळावन (सुंसुमार गिरि)

अत्तानं चे पियं जञ्ञा, रक्खेय्य नं सुरक्खितं।
तिण्णं अञ्ञतरं यामं, पटिजग्गेय्य पण्डितो॥ १५७॥

जानीयात् प्रियमात्मानम्, इमं रक्षेत् सुरक्षितम्।
त्रिषु चान्यतमं यामं, पण्डितः प्रतिजाग्रियात्॥ १५७॥

१५७. यदि मनुष्य आत्मा को प्रिय समझता है तो उसे इसकी भली प्रकार से रक्षा करनी चाहिये। इसके लिये सबसे सरल उपाय है कि बुद्धिमान् पुरुष रात्रि के तीन प्रहरों में से एक प्रहर में अवश्य ही जाग्रत् (सावधान) रहता हुआ धर्मसाधना में मन लगाये। अर्थात्

मनुष्य अपनी आयु के—यौवन, प्रौढत्व एवं वार्धक—इन तीनों अवस्थाओं में किसी एक अवस्था में अवश्य धर्मसाधना करे॥

२. उपनन्द शाक्यपुत्र को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अत्तानमेव पठमं, पतिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य, न किलिस्सेय्य पण्डितो॥ १५८॥

आत्मानमेव प्रथमं, प्रतिरूपं निवेशयेत्।
अथायमन्यमनुशिष्यात्, क्लिश्येदेवं न पण्डितः॥ १५८॥

१५८. बुद्धिमान् पुरुष यदि दूसरों को उपदेश करता है तो वह पहले स्वयं उस उचित कार्य में अपने को संलग्न करे। उसमें स्वयं सफल होने के बाद ही दूसरों को तदर्थ उपदेश देना आरम्भ करे। ऐसा करने से वह कभी सङ्कट में नहीं पड़ेगा॥

३. प्राधानिक तिष्यस्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अत्तानं चे तथा कयिरा, यथाञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दमेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो॥ १५९॥

आत्मानं चेत्तथा कुर्यात्, यथान्य उपदिश्यते।
परं सुदान्तो दमयेत्, आत्मा हि किल दुर्दमः॥ १५९॥

१५९. यदि मनुष्य स्वयं को वैसा बना ले, जैसा कि वह दूसरों को उपदेश करता है, तो उसे स्वयं पहले आत्मसंयम कर दूसरों को आत्मसंयम का उपदेश करना चाहिये; क्योंकि वस्तुतः स्वयं का संयम (इन्द्रियसंयम) ही दुष्कर (कठिन) होता है॥

४. कुमारकाश्यप स्थविर की माता को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं॥ १६०॥

आत्मा वै आत्मनो नाथः, को नाथो हि परो भवेत्।
आत्मना हि सुदान्तेन, नाथं प्राप्नोति दुर्लभम्॥ १६०॥

१६०. मनुष्य स्वयं ही अपना स्वामी (उद्धारक) है। दूसरा कौन उसका स्वामी हो सकता है! पहले स्वयं को भले प्रकार से दमित कर लेने पर ही वह मनुष्य दुर्लभ नाथ (निर्वाण) को प्राप्त कर सकता है॥

५. महाकाल उपासक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अत्तना हि कतं पापं, अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्थति दुम्मेधं, वजिरं वस्ममयं मणिं॥ १६१॥

आत्मनैव कृतं पापमात्मजं ह्यात्मसम्भवम्।
अभिमथ्नाति दुर्बुद्धिं, वज्रमश्ममणिं यथा॥ १६१॥

१६१. स्वयंकृत, स्वयं से उत्पन्न, तथा स्वयं से परिपुष्ट पाप दुर्मति पुरुष को उसी

प्रकार मथता रहता है, जैसे प्रस्तर से उत्पन्न वज्र (हीरा) प्रस्तरमणि को मथ देता है॥

६. देवदत्त को : : राजगृह के वेणुवन में

यस्स अच्चन्तदुस्सील्यं, मालुवा सालमिवोततं।
करोति सो तथत्तानं, यथा नं इच्छती दिसो॥ १६२॥

यस्यात्यन्तं हि दौःशील्यं मालुवाततशालवत्।
करोति स तथात्मानम्, द्विट् यथैनं हि वाञ्छति॥ १६२॥

१६२. उस (देवदत्त) का किया हुआ अत्यधिक दुराचरण ही (दौ:शील्य) बढ़ कर उसको इस तरह परिवेष्टित किये हुए है जैसे मालुवा लता शाल वृक्ष को परिवेष्टित कर लेती है। उसने अपने को वैसा ही बना लिया है जैसा उसके शत्रु उसे चाहते हैं॥

७. सङ्घभेदक्रिया प्रसङ्ग में : : राजगृह के वेणुवन में

सुकरानि असाधूनि, अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितं च साधुं च, तं वे परमदुक्करं॥ १६३॥

सुकराणि ह्यसाधूनि, आत्मनश्चाहितानि वै।
यद्वै हितं च साधु च, तद्वै परमदुष्करम्॥ १६३॥

१६३. (साधारणजन के लिये) ऐसे कार्य करना सरल है जो अकुशल (असाधु= पापमय) हैं, उसका अहित करने वाले हैं। परन्तु जो कार्य (परिणाम में) हितकारक हैं, तथा कुशल हैं उनको पूर्ण करना ही अत्यधिक कठिन होता है॥

८. काल स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो सासनं अरहतं, अरियानं धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो, दिट्ठिं निस्साय पापिकं।
फलानि कट्ठकस्सेव, अत्तघाताय फल्लति॥ १६४॥

शासनमर्हतां यद्वै, आर्याणां धर्मजीविनाम्।
प्रतिक्रोशति दुर्मेधाः, दृष्टिं निःश्रित्य पापिकाम्॥
फलानि काष्ठकस्येव, आत्मघाताय वर्धते॥ १६४॥

१६४. जो दुर्बुद्धि मनुष्य पापमय दृष्टि का सहारा लेकर धर्मिष्ठ एवं आर्यपुरुष अर्हतों (ज्ञानियों) की निन्दा करता रहता है वह मानो बाँस के फलों के समान अपनी हत्या के लिये ही फलता फूलता है॥

९. चूळकाल उपासक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अत्तना हि कतं पापं, अत्तना सङ्किलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति।
सुद्धी असुद्धि पच्चत्तं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये॥ १६५॥

आत्मना हि कृतं पापमात्मना संक्लिश्यति।

आत्मना चाकृतं पापमात्मनैव विशुध्यति।
शुद्धिरशुद्धिः प्रत्यात्ममन्यो नान्यं विशोधयेत्॥ १६५॥

१६५. मनुष्य स्वयंकृत पाप से अपने को मलिन (अशुद्ध) कर लेता है। स्वयं न कृत पाप से वह शुद्ध रहता है। शुद्धि एवं अशुद्धि—दोनों ही कर्तृसापेक्ष हैं, अर्थात् ये दोनों उनके कर्ताओं पर निर्भर हैं। कोई पुरुष किसी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता (और न अशुद्ध ही कर सकता है।)॥

१०. आत्मार्थ स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अत्तदत्थं परत्थेन, बहुना पि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय, सदत्थपसुतो सिया॥ १६६॥

अत्तवग्गो निट्ठितो॥

आत्मनोऽर्थं परार्थेन बहुनापि न हापयेत्।
आत्मनोऽर्थमभिज्ञाय, सदर्थप्रसृतो भवेत्॥ १६६॥

१६६. बुद्धिमान् दूसरों के महान् धर्म के लिये अपने स्वल्पधर्म (स्वधर्म) का कथमपि परित्याग न करे। उसे चाहिये कि स्वधर्म को भली प्रकार से जान कर उसी की पूर्ति में सतत प्रयत्नशील रहे॥

आत्मवर्ग द्वादश सम्पन्न॥

✿

१३. लोकवग्गो तयोदसमो
१३. लोकवर्ग त्रयोदश

१. किसी युवा भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य, न सिया लोकवड्ढनो॥ १६७॥

हीनं धर्मं न सेवेत, प्रमादेन न संवसेत्।
मिथ्यादृष्टिं न सेवेत, न स्याल्लोकस्य वर्धनः॥ १६७॥

१६७. किसी भी हीनधर्म (लौकिक पाँच कामगुण) का आश्रयण नहीं करना चाहिये। किसी भी कार्य में प्रमादयुक्त न रहे। अपने धार्मिक चिन्तन में मिथ्यादृष्टि को आधार न बनावे। मिथ्या प्रशंसा की प्राप्तिहेतु लोक में सांसारिक सम्पर्क न बढ़ावे॥

२. राजा शुद्धोदन (बुद्ध-पिता) को : : कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में

उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च॥ १६८॥

उत्तिष्ठेन्न प्रमाद्येत, धर्मं सुचरितं चरेत्।
धर्मचारी सुखं शेते, अस्मिन् लोके परत्र च॥ १६८॥

१६८. भिक्षु को प्रत्येक गृहस्थ के द्वार पर खड़े होकर भिक्षा करनी चाहिये। अपने ईर्यापथ में कोई प्रमाद न करे। सदाचारमय धर्म का सतत आचरण करने वाला पुरुष ही इस लोक तथा परलोक में सुखपूर्वक रह सकता है॥

धम्मं चरे सुचरितं, न नं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च॥ १६९॥

धर्मं चरेत् सुचरितं, न नं दुश्चरितं चरेत्।
धर्मचारी सुखं शेते, अस्मिन् लोके परत्र च॥ १६९॥

१६९. सदाचारमय धर्म का आचरण करे, मिथ्या आचरण न करे। धर्मपूर्वक आचरणकर्ता लोक तथा परलोक—दोनों ही स्थानों में सुख से रहने का अधिकारी है॥

३. पाँच सौ विपश्यक भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यथा बुब्बुळकं पस्से, यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सति॥ १७०॥

यथा बुद्बुदकं पश्येद्, यथा पश्येन्मरीचिकाम्।
एवं लोकं नु पश्यन्तं, मृत्युराजो न पश्यति॥ १७०॥

१७०. यदि साधक इस संसार को जल के बुदबुदे के समान विनाशी एवं मृगमरीचिका के तुल्य भ्रमात्मक समझे तो ऐसे परम साधक पर यमराज (मृत्यु) की दृष्टि नहीं पड़ती॥

४. अभय राजकुमार को : : राजगृह के वेणुवन में

एथ पस्सथिमं लोकं, चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि सङ्गो विजानतं॥ १७१॥

एत, पश्यतेमं लोकं, चित्रं राजरथोपमम्।
यत्र बाला विषीदन्ति, नास्ति सङ्गो विजानताम्॥ १७१॥

१७१. अरे साधको! आओ, इस राजाओं के रथ के समान चित्र विचित्र संसार को गम्भीरता से देखने का प्रयास करो! जहाँ मूर्खजन आसक्त होकर दुःख भोगते रहते हैं, वहीं ज्ञानिजन निरासक्त रहते हुए सुखमय जीवनयापन करते हैं॥

५. सम्मार्जनि स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति।

सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥ १७२॥

यश्च पूर्वं प्रमाद्यापि, पश्चात् स न प्रमाद्यति।
प्रभासयति लोकं वै, अभ्रमुक्तो यथा शशी॥ १७२॥

१७२. जो पहले प्रमाद करके भी बाद में प्रमादरहित जीवनयापन करने का प्रयास करता है, ऐसा पुरुष इस लोक को उसी तरह प्रकाशित करता है जैसे मेघमुक्त चन्द्रमा आकाश में प्रकाशित हुआ करता है॥

६. अङ्गुलिमाल स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यस्स पापं कतं कम्मं, कुसलेन पिधीयति।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥ १७३॥

यस्य पापं कृतं कर्म, कुशलेन पिधीयते।
प्रभासयति लोकं वै, अभ्रान्मुक्तो यथा शशी॥ १७३॥

१७३. जिसके द्वारा कृत पाप (पश्चात्कृत) कुशलकर्मों से आवृत हो जाता है वह इस लोक को उसी तरह प्रकाशित करता है जैसे मेघमुक्त चन्द्रमा आकाश को प्रकाशित करता है॥

७. जुलाहे की पुत्री को : : अग्गाळव चैत्य में

अन्धभूतो अयं लोको, तनुकेत्थ विपस्सति।
सकुणो जालमुत्तो व, अप्पो सग्गाय गच्छति॥ १७४॥

चक्षुर्विहीनो लोकोऽयं, तनुकोऽत्र विपश्यति।
पक्षी यथा जालमुक्तः, अल्पः स्वर्गं गमिष्यति॥ १७४॥

१७४. यह समस्त लोक अन्धा (दृष्टिविहीन) है। यहाँ कुछ ही (विवेकी) जन इस संसार की वास्तविकता देख पाते हैं, समझ पाते हैं। जाल से मुक्त हुए कुछ पक्षियों के समान कुछ (सदसद्विवेकी) पुरुष ही सुगतिमय स्वर्ग तक पहुँच पाते हैं॥

८. तीस भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

हंसादिच्चपथे यन्ति, आकासे यन्ति इद्धिया।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा, जेत्वा मारं सवाहिनिं॥ १७५॥

हंसाः सूर्यपथे यन्ति, आकाशे यन्ति ऋद्धिकाः।
धीरा लोकाद्धि नीयन्ते जित्वा मारं ससेनकम्॥ १७५॥

१७५. हंस सूर्यमार्ग में (आकाश) में उड़ते हैं, ऋद्धिसम्पन्नजन अपने ऋद्धिबल से आकाश में जाते हैं; (परन्तु) सेनासहित मार को जीतने वाले धैर्यशाली ज्ञानिजन इस लोक से (ससम्मान) ले जाये जाते हैं॥

९. चिञ्चा माणविका को : : श्रावस्ती के जेतवन में

एकं धम्मं अतीतस्स, मुसावादिस्स जन्तुनो।

वितिण्णपरलोकस्स, नत्थि पापं अकारियं॥ १७६॥

धर्ममेकमतीतस्य, प्राणिनोऽसत्यभाषिणः।
वितृष्णपरलोकस्य, नास्ति पापमकृत्यकम्॥ १७६॥

१७६. एक धर्म (सत्य) का उल्लङ्घन कर, असत्य बोलने वाले तथा परलोक के प्रति उदासीन रहने वाले पुरुष के लिये ऐसा कोई कार्य नहीं है जो त्याज्य (अकार्य) हो॥

१०. असदृशदान प्रशंसा : : श्रावस्ती के जेतवन में

न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति, बाला हवे नप्पसंसन्ति दानं।
धीरो च दानं अनुमोदमानो, तेनेव सो होति सुखी परत्थ॥ १७७॥

स्वर्गं न गच्छन्ति कदापि लोभिनो, दानं प्रशस्तं न कदापि मूर्खैः।
धीरश्च दानं ह्यनुमोदमानः, सुखी भवत्यत्र परत्र लोके॥ १७७॥

१७७. कृपण (दान करने में कंजूस) मनुष्य देवलोक नहीं पहुँच पाते। मूर्ख मनुष्य दान की प्रशंसा क्या करेंगे! धैर्यशाली पुरुष ही दान का अनुमोदन करता है। उसी के प्रभाव से वह यहाँ और मरणानन्तर देवलोक में जाकर सुख भोगता है॥

११. अनाथपिण्डिकपुत्र काल को : : श्रावस्ती के जेतवन में

पथव्या एकरज्जेन, सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन, सोतापत्तिफलं वरं॥ १७८॥

लोकवग्गो निट्ठितो॥

पृथिव्याश्चैकराज्याद्वै, स्वर्गस्य गमनादथ।
श्रेयसी स्रोतआपत्तिः, सर्वलोकाधिपत्यतः॥ १७८॥

१७८. समस्त पृथ्वी के एकच्छत्र राज्य, स्वर्ग में वास तथा समस्त संसार का आधिपत्य मिलने की अपेक्षा स्रोतआपत्तिफल की प्राप्ति ही श्रेष्ठ है॥

लोकवर्ग त्रयोदश सम्पूर्ण॥

✿

१४. बुद्धवग्गो चतुदसमो

१४. बुद्धवर्ग चतुर्दश

१. मारपुत्री को : : बोधिमण्डप में

यस्स जितं नावजीयति, जितं यस्स नो याति कोचि लोके।
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ॥ १७९॥

यस्य जितं नावजीयते, जितमस्य न याति कश्चिल्लोके।
तं बुद्धमनन्तगोचरम्, अपदं केन पदेन नेष्यथ! ॥ १७९ ॥

१७९. जिसका जीता हुआ पराजय में नहीं बदला जा सकता, जिसकी विजयप्राप्ति के लक्ष्य तक संसार में अन्य कोई नहीं पहुँच पाता; उस अनन्तदर्शी, पदरहित बुद्ध को तुम किस उपाय (विधि) से अस्थिर कर सकोगी! ॥

यस्स जालिनी विसत्तिका, तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे।
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ॥ १८० ॥

यस्य जालिनी विषात्मिका, तृष्णा नास्ति क्वचिन्नेतुम्।
तं बुद्धमनन्तगोचरम्, अपदं केन पदेन नेष्यथ! ॥ १८० ॥

१८०. जिसको जञ्जालयुक्त एवं विषसम्पृक्त सांसारिक तृष्णा भी कहीं विचलित नहीं कर पायी, उस अनन्तदर्शी, पदरहित बुद्ध को तुम किस उपाय से विचलित कर पाओगी ॥

२. बहुत से देवताओं एवं मनुष्यों को : : साङ्काश्यनगर के द्वार पर

ये झानपसुता धीरा, नेक्खम्मूपसमे रता।
देवा पि तेसं पिहयन्ति, सम्बुद्धानं सतीमतं॥ १८१ ॥

ये ध्यानप्रसृता धीराः, नैष्कर्म्योपशमे रताः।
देवास्तेभ्यः स्पृहयन्ति बुद्धेभ्यः स्मरणशीलेभ्यः ॥ १८१ ॥

१८१. जो सतत ध्यानमग्न रहते हैं, धैर्यसम्पन्न हैं, निष्कामकर्मों द्वारा स्थायी शान्ति प्राप्त करने में तत्पर हैं, उन स्मृतियुक्त बुद्धों से देवतागण भी स्पृहा करते हैं ॥

३. एरकपत्र नागराज को : : वाराणसी में

किच्छो मनुस्सपटिलाभो, किच्छं मच्चान जीवितं।
किच्छं सद्धम्मस्सवनं, किच्छो बुद्धानमुप्पादो॥ १८२ ॥

कृच्छ्रा मनुष्यताप्राप्तिः, कृच्छ्रं मानवजीवनम्।
कृच्छ्रं सद्धर्मश्रवणं, कृच्छ्रा बुद्धस्थितिर्भृशम्॥ १८२ ॥

१८२. सबसे पहले, मनुष्यजन्म प्राप्त करना ही दुर्लभ है, यदि किसी पुण्यप्रभाव से यह दुर्लभ जीवन मिल भी जाय तो अधिक समय तक जीवित रहना इसकी अपेक्षा दुर्लभ है; पुनश्च जीवित रहते हुए धर्मश्रवण करना तो और भी दुर्लभ है, तथा सर्वतो दुर्लभ है इस लोक में बुद्ध का आविर्भूत होना (कि जिनसे साक्षात् धर्मश्रवण किया जा सके) ॥

४. आनन्द स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं॥ १८३ ॥

सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा।
स्वचित्तपर्यवदानम्, एतद् बुद्धानुशासनम्॥ १८३ ॥

१८३. सभी पापों का निषेध, कुशलकर्मसम्पत्ति का सञ्चय, तथा स्वकीय चित्त की परिशुद्धि—यही बुद्धों का अनुशासन (उपदेश) है॥

खन्ती परमं तपो तितिक्खा, निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।
न हि पब्बजितो परूपघाती, समणो होति परं विहेठयन्तो॥ १८४॥
क्षान्तिः परमं तपस्तितिक्षा, निर्वाणं परमं वदन्ति बुद्धाः।
नहि प्रव्रजितः परोपघाती, श्रमणो भवति परं विहेठमानः॥ १८४॥

१८४. क्षान्ति (क्षमा), जिसे तितिक्षा (सहनशीलता) भी कहते हैं, सबसे उत्कृष्ट (परम) तप है। परन्तु निर्वाण उसकी अपेक्षा भी उत्कृष्टतर तप है। यह निश्चित समझिये कि दूसरे की (कायिक, वाचिक एवं मानसिक) हिंसा करने वाले को प्रव्रज्या का कोई लाभ नहीं है या दूसरे को कष्ट देने वाला अपने को 'श्रमण' कहला कर क्या लाभ लेगा!॥

अनूपवादो अनूपघातो, पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं, पन्तं च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो, एतं बुद्धान सासनं॥ १८५॥
अनपवादोऽनपघातः, प्रातिमोक्षे च संवरः।
मात्राज्ञता च भक्ते वै, प्रान्ते च शयनासनम्।
आयोगश्चाधिचित्ते वै, एतद् बुद्धानुशासनम्॥ १८५॥

१८५. अतः किसी की निन्दा न करना, किसी पर आघात (चोट) न पहुँचाना, प्रातिमोक्ष (भिक्षुओं के लिये प्रतिपादित शील) के नियमों का विधिवत् पालन, भोजन की मात्रा का पूर्णतः ज्ञान, एकान्त में ही सोना उठना बैठना आदि क्रियाएँ करना तथा चित्तवृत्तियों को निरोधयुक्त रखना—यही बुद्धों का अनुशासन (उपदेश) है॥

९. धर्म में अनभिरत किसी भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

न कहापणवस्सेन, तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा, इति विञ्ञाय पण्डितो॥ १८६॥
न कार्षापणवर्षेण, तृप्तिः कामेषु विद्यते।
अल्पस्वादयुतान् दुःखान्, कामान् विज्ञाय पण्डितः॥ १८६॥

१८६. कार्षापणों (सुवर्णमुद्राओं) की अपार वर्षा से भी कामनाओं की तृप्ति नहीं हो पाती। "इन कामनाओं के उपभोग में स्वाद (सुखद रस) अल्प है तथा दुःख अधिक है"—यह जान कर बुद्धिमान् पुरुष—॥

अपि दिब्बेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको॥ १८७॥
अपि दिव्येषु कामेषु स रतिं नाधिगच्छति।
तृष्णाक्षयरतश्चासौ सम्यक्सम्बुद्धश्रावकः॥ १८७॥

१८७. लौकिक सुखों की बात तो छोड़िये, दिव्य (स्वर्ग के) सुखों में भी कोई आसक्ति नहीं रखता। वह पूर्णरूपेण प्रबुद्ध रहता हुआ श्रावक तृष्णा-क्षय के प्रयास में ही निरन्तर लगा रहता है॥

६. अग्निदत्त ब्राह्मण को : : श्रावस्ती के जेतवन में

बहुं वे सरणं यन्ति, पब्बतानि वनानि च।
आरामरुक्खचेत्यानि, मनुस्सा भयतज्जिता॥ १८८॥

बहु वै शरणं यन्ति, पर्वताँश्च वनानि च।
आरामवृक्षचैत्यानि, मनुष्या भयतर्जिताः॥ १८८॥

१८८. संसार में भयत्रस्त मनुष्य पर्वत, वन, उद्यान (आराम) वृक्ष एवं चैत्यों की शरण में जाते हैं॥

नेतं खो सरणं खेमं, नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति॥ १८९॥

नैतत् खलु शरणं क्षेमं, नैतच्छरणमुत्तमम्।
नैतत् शरणमागत्य, सर्वदुःखात् प्रमुच्यते॥ १८९॥

१८९. ये शरणस्थल उस भयत्रस्त पुरुष के लिये सुखद एवं भयरहित उत्तम शरणस्थल नहीं हो सकते। वह इनको शरणस्थल मान कर सब दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता॥

यो च बुद्धं च धम्मं च, सङ्घं च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि, सम्मप्पञ्ञाय पस्सति॥ १९०॥

यश्च बुद्धं च धर्मं च, सङ्घं च शरणं गतः।
आर्यसत्यानि चत्वारि, पश्यति सम्यक्प्रज्ञया॥ १९०॥

१९०. इसके विपरीत, जो बुद्ध, धर्म एवं सङ्घ की शरण में जाता है, सम्यक्प्रज्ञा द्वारा चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार करता है॥

दुक्खं दुक्खसमुप्पादं, दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं, दुक्खूपसमगामिनं॥ १९१॥

दुःखं दुःखसमुत्पादं, दुःखस्य समतिक्रमम्।
आर्यं चाष्टाङ्गिकं मार्गं दुःखोपशमगामिनम्॥ १९१॥

१९१. जैसे—दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध तथा इस दुःखनिरोध को बताने वाला अष्टाङ्गिक मार्ग॥

एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति॥ १९२॥

एतत् खलु शरणं क्षेमम्, एतच्छरणमुत्तमम्।

एतच्छरणमागत्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते॥ १९२॥

१९२. वस्तुतः यह (उक्त रत्नत्रयशरणगमन) ही उत्तम एवं है, सुखदायक शरणस्थल है। इस शरणस्थल में पहुँच कर वह सांसारिक भयत्रस्त पुरुष सभी दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है॥

७. आनन्द स्थविर के प्रश्न का उत्तर : : श्रावस्ती के जेतवन में

दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो, न सो सब्बत्थ जायति।
यत्थ सो जायति धीरो, तं कुलं सुखमेधति॥ १९३॥

दुर्लभः पुरुषः श्रेष्ठो न स सर्वत्र जायते।
यत्र स जायते धीरस्तत् कुलं सुखमेधते॥ १९३॥

१९३. ऐसा पुरुषोत्तम ज्ञानी इस संसार में परम दुर्लभ है। यह सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता। जिस कुल में यह धैर्यशाली पुरुष आविर्भूत होता है उस कुल का निश्चय ही अभ्युदय (सुखसमृद्धि) अवश्यम्भावी है॥

८. बहुत से भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सुखो बुद्धानमुप्पादो, सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा सङ्घस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो॥ १९४॥

बुद्धोत्पादः सुखः प्रोक्तः, सुखा सद्धर्मदेशना।
सुखा सङ्घस्य सामग्री, समग्राणां तपः सुखम्॥ १९४॥

१९४. भगवान् बुद्धों का आविर्भाव सभी के लिये सुखप्रद होता है। उनकी धर्मदेशना अपेक्षाकृत अधिक सुखद होती है। उनके उपदेश के अनुसार साधनाकर्ता भिक्षुसङ्घ की एकता भी सुखदायक मानी जाती है। इस प्रकार इन भिक्षुओं का एकता के साथ धर्मसाधना करना (तप) सबसे अधिक सुखप्रद है॥

९. काश्यप बुद्ध के सौवर्ण चैत्य के विषय में : : चारिका करते हुए

पूजारहे पूजयतो, बुद्धे यदि व सावके।
पपञ्चसमतिक्कन्ते, तिण्णसोकपरिद्दवे॥ १९५॥

पूज्यान् पूजयतो बुद्धान्, यदि वा श्रावकानथ।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तान्, तीर्णशोकपरिद्रवान्॥ १९५॥

१९५. जो पूजनीय लोगों की पूजा तथा सम्मान करता है, बुद्धों या उनके श्रावकों की, संसार के प्रपञ्चों से दूर हुए, अतएव तज्जनित शोक एवं परिदेवादि से मुक्त ज्ञानी पुरुषों की पूजा तथा सम्मान करता है॥

ते तादिसे पूजयतो, निब्बुते अकुतोभये।
न सक्का पुञ्ञं सङ्खातुं, इमेत्तमपि केनचि॥ १९६॥

पठमभाणवारं निट्ठितं॥

बुद्धवग्गो निट्ठितो॥

ताँस्तादृशः पूजयतो निर्वृतानकुतोभयान्।
न शक्यं पुण्यं सङ्ख्यातुमियन्मात्रं तु केनचित्॥ १९६॥

१९६. इस प्रकार जो इन निर्वाण तक पहुँचे हुए तथा संसार में सर्वत्र निर्भीक विचरण करने वाले ज्ञानिजनों की पूजा करता रहता है, उसके पुण्य का कुछ भी वर्णन नहीं किया जा सकता कि वह इतना हुआ!॥

बुद्धवर्ग चतुर्दश सम्पन्न॥

✿

१५. सुखवग्गो पन्नरसमो
१५. सुखवर्ग पञ्चदश

१. जातिबन्धुओं में कलहोपशमनहेतु : : शाक्यप्रदेश में

सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु, विहराम अवेरिनो॥ १९७॥

सुसुखं बत जीवामो, यथा वैरिष्ववैरिणः।
वैरिष्वपि मनुष्येषु, विहरामो न्ववैरिणः॥ १९७॥

१९७. शत्रुओं के साथ अशत्रुता (मैत्री) का व्यवहार करने वाले ही संसार में सुखपूर्वक जीवित रह सकते हैं। हम लोग वैरियों के साथ मित्रवद् व्यवहार करते हैं॥

सुसुखं वत जीवाम, आतुरेसु अनातुरा।
आतुरेसु मनुस्सेसु, विहराम अनातुरा॥ १९८॥

सुसुखं बत जीवामः, आतुरेषु त्वनातुराः।
आतुरेषु मनुष्येषु, विहरामो ह्यनातुराः॥ १९८॥

१९८. संसार में वैरादि रोगों से ग्रस्त रोगियों से अरोगी के तुल्य व्यवहार करने पर ही सुखपूर्वक जीवित रहा जा सकता है। हम ऐसे रोगियों से अरोगी के समान व्यवहार कर सूखपूर्वक जीवित रह रहे हैं॥

सुसुखं वत जीवाम, उस्सुकेसु अनुस्सुका।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु, विहराम अनुस्सुका॥ १९९॥

सुसुखं बत जीवामः, उत्सुकेषु त्वनुत्सुकाः।
उत्सुकेषु मनुष्येषु, विहरामो ह्यनुत्सुकाः॥ १९९॥

१९९. संसार में उत्सुकों में अनुत्सुक के समान व्यवहार करने पर ही जीवित रहा जा सकता है। हम ऐसे उत्सुकों से अनुत्सुक के समान रह कर ही व्यवहार करते हैं॥

२. पापी मार के प्रति : : पञ्चशाला (ब्राह्मणग्राम) में

सुसुखं वत जीवाम, येसं नो नत्थि किञ्चनं।
पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा॥ २००॥

सुसुखं बत जीवामो, येषां नो नास्ति किञ्चन।
प्रीतिभक्षा भविष्यामः, देवा आभास्वरा यथा॥ २००॥

२००. हम भिक्षुजन भी, जिनका संसार में अपना कहने योग्य कुछ नहीं है, सुखपूर्वक जीवित रह सकते हैं। यदि हमें खाने के लिये भिक्षा में कुछ भी न मिलेगा तो हम, आभास्वर देवों के समान, प्रीति भक्षण करके भी जीवित रह सकते हैं॥

३. कौशलराज प्रसेनजित् के प्रति : : श्रावस्ती, जेतवन में

जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजयं॥ २०१॥

जयो वैरं प्रसूतेऽत्र, दुःखं शेते पराजितः।
उपशान्तः सुखं शेते, हित्वा जयपराजयौ॥ २०१॥

२०१. (किसी पर) विजय (उससे) शत्रुता उत्पन्न करती है। पराजित मनुष्य दुःखी होकर सोता है। अत: विजय, पराजय—दोनों को त्याग कर शान्त रहने वाला पुरुष ही सुख की नींद सो सकता है॥

४. किसी कुलपुत्री को : : श्रावस्ती, जेतवन में

नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा, नत्थि सन्तिपरं सुखं॥ २०२॥

अग्नी रागसमो नान्यः, नास्ति द्वेषसमः कलिः।
न स्कन्ध इव दुःखानि, नास्ति शान्तिपरं सुखम्॥ २०२॥

२०२. राग के समान कोई दाहक अग्नि नहीं है। द्वेष के समान कोई अपराध नहीं है। रूप, वेदना आदि स्कन्धों के समान कोई दुःख नहीं है। तथा शान्ति के समान कोई सुख नहीं है॥

५. किसी उपासक को : : आळवी में

जिघच्छा परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं, निब्बानं परमं सुखं॥ २०३॥

जिघत्सा परमो रोगः, संस्कारः परमं दुःखम्।
एतज्ज्ञात्वा यथाभूतं निर्वाणं परमं सुखम्॥ २०३॥

२०३. जिघृक्षा (उपादान=ग्रहण करने की इच्छा) या जिघत्सा (भूख) के समान

कोई रोग नहीं है, संस्कार परम दुःख है यह जान कर 'निर्वाण ही परम सुख है'—ऐसा मानो॥

६. राजा प्रसेनजित् कौशल को : : श्रावस्ती, जेतवन में

आरोग्यपरमा लाभा, सन्तुट्ठिपरमं धनं।
विस्सासपरमा ञाति, निब्बानं परमं सुखं॥ २०४॥

आरोग्यपरमा लाभाः, सन्तुष्टिः परमं धनम्।
विश्वासः परमो ज्ञातिः, निर्वाणं परमं सुखम्॥ २०४॥

२०४. आरोग्य परम लाभ है, सन्तोष परम धन है। विश्वास सबसे बड़ा सम्बन्धी है तथा निर्वाण सबसे बड़ा सुख है॥

७. किसी भिक्षु को : : वैशाली में

पविवेकरसं पीत्वा, रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो, धम्मपीतिरसं पिवं॥ २०५॥

प्रविवेकरसं पीत्वा, रसं चोपशमस्य वै।
निद्दरो भवति निष्पापो, धर्मप्रीतिरसं पिबन्॥ २०५॥

२०५. विवेक (एकान्त) तथा शान्ति रस पीकर धर्म के प्रीति रस को पीता हुआ मनुष्य निर्भय एवं निष्पाप हो जाता है॥

८. शक्र देवराज को : : वेणुवग्राम में

साहु दस्सनमरियानं, सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं, निच्चमेव सुखी सिया॥ २०६॥

साधु दर्शनमार्याणाम्, सन्निवासः सदा सुखम्।
अदर्शनेन बालानां नित्यमेव सुखी भवेत्॥ २०६॥

२०६. आर्यों का दर्शन मङ्गलकारी होता है। उनके साथ रहना अधिक सुखप्रद है। मूर्खों का दर्शन न होने से भी मनुष्य सदा ही सुखी रहता है॥

बालसङ्गतचारी हि, दीघमद्धान सोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो, अमित्तेनेव सब्बदा।
धीरो च सुखसंवासो, ञातीनं व समागमो॥ २०७॥

बालसङ्गतचारी हि, दीर्घमध्वानं शोचति।
दुःखो बालेन संवासः, अमित्रेणेव सर्वदा।
धीरश्च सुखसंवासः, यथा ज्ञातिसमागमः॥ २०७॥

२०७. मूर्खों की सङ्गति में रह कर मनुष्य की जीवनयात्रा दुःखमिश्रित ही होती है। मूर्खों के साथ रहना उसी तरह दुःखप्रद होता है जैसे शत्रु के साथ रहना दुःखद हुआ करता है॥

तस्मा हि—

धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च, धोरय्हसीलं वतवन्तमारियं।

तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथं व चन्दिमा ॥ २०८ ॥

सुखवग्गो निट्ठितो ॥

धीरं च प्राज्ञं च बहुश्रुतं च, धौरेयशीलं व्रतवन्तमार्यम्।
तं तादृशं सत्पुरुषं सुबुद्धिं, भजेत नक्षत्रपथं यथा शशी ॥ २०८ ॥

२०८. अतः जिस प्रकार चन्द्रमा नक्षत्रपथ का अनुगमन करता है, उसी तरह भले मनुष्य को धैर्यवान्, प्राज्ञ, पण्डित, व्रती, आर्य एवं मेधावी पुरुष का अनुगमन करना चाहिये ॥

सुखवर्ग पञ्चदश समाप्त ॥

✿

१६. पियवग्गो सोळसमो

१६. प्रियवर्ग षोडश

१. तीन प्रव्रजितों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

अयोगे युञ्जमत्तानं, योगस्मिं च अयोजयं।
अत्थं हित्वा पियग्गाही, पिहेतत्तानुयोगिनं ॥ २०९ ॥

युञ्जन्नयोगे आत्मानम्, तथा योगे न्वयोजयन्।
अर्थं हित्वा प्रियग्राही, ईर्ष्येदात्मानुयोगिनम् ॥ २०९ ॥

२०९. अयोग्य कार्य में अपने को व्यापृत करने वाला, तथा योग्य कार्य में व्यापृत न करने वाला जो पुरुष प्रयोजन का त्याग कर प्रिय विषयों का ग्राही होता है वह योग्य मार्ग पर चलने वाले से ईर्ष्या ही करता है ॥

मा पियेहि समागञ्छि, अप्पियेहि कुदाचनं।
पियानं अदस्सनं दुक्खं, अप्पियानं च दस्सनं ॥ २१० ॥

न . प्रियैः सङ्गतिं कुर्यात्, अप्रियैश्च कदाचन।
प्रियस्य दर्शनं दुःखमप्रियाणां च दर्शनम् ॥ २१० ॥

२१०. न प्रियों के साथ लगना उचित है, न अप्रियों के साथ ही लगना उचित है। क्योंकि प्रियजन न मिलते हैं तो उनका न मिलना दुःखप्रद हो जाता है उसी तरह अप्रियों का मिलना भी दुःखप्रद ही है ॥

तस्मा पियं न कयिराथ, पियापायो हि पापको।
गन्था तेसं न विज्जन्ति, येसं नत्थि पियाप्पियं॥ २११॥
तस्मात् प्रियं न कुर्याद्धि, प्रियापायो हि पापकः।
तेषां न जायते ग्रन्थिः, नास्ति येषां प्रियाप्रियम्॥ २११॥

२११. अतः किसी को प्रिय न बनाओ; क्योंकि किसी को प्रिय बनाने के बाद उसका वियोग सहना दुष्कर हो जाता है। हमारे कथन का तात्पर्य यह है कि जिन ज्ञानियों के प्रिय एवं अप्रिय—दोनों ही नहीं होते उनको संसार के कोई बन्धन नहीं हो पाते॥

२. किसी कौटुम्बिक को : : श्रावस्ती, जेतवन में

पियतो जायती सोको, पियतो जायती भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१२॥
प्रियतो जायते शोकः, प्रियतो जायते भयम्।
प्रियतो विप्रमुक्तस्य, नास्ति शोकः कुतो भयम्!॥ २१२॥

२१२. प्रिय के न मिलने पर शोक होता है, अप्रिय के मिलने पर भय उत्पन्न होता है। अतः इस प्रिय अप्रिय से मुक्त पुरुष को न शोक होता है, न भय॥

३. विशाखा उपासिका को : : श्रावस्ती, जेतवन में

पेमतो जायती सोको, पेमतो जायती भयं।
पेमतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१३॥
प्रेमतो जायते शोकः, प्रेमतो जायते भयम्।
प्रेमतो विप्रमुक्तस्य, नास्ति शोकः कुतो भयम्!॥ २१३॥

२१३. प्रेम (आसक्ति) से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय भी उत्पन्न होता है। इस प्रेम (आसक्ति) से रहित पुरुष को किसी प्रकार का शोक उत्पन्न नहीं होता, भय की तो बात ही नहीं है॥

४. लिच्छवियों के विषय में : : कूटागारशाला, वैशाली में

रतिया जायती सोको, रतिया जायती भयं।
रतिया विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१४॥
रत्या हि जायते शोकः, रत्या वै जायते भयम्।
रत्या हि विप्रमुक्तस्य, नास्ति शोकः कुतो भयम्!॥ २१४॥

२१४. रति (आसक्ति) से शोक उत्पन्न होता है, इसी रति से कभी कभी भय भी उत्पन्न होता है। परन्तु इस रति (आसक्ति) से मुक्त पुरुष को न शोक होता है, न भय॥

५. अस्त्रीगन्धकुमार को : : श्रावस्ती, जेतवन में

कामतो जायती सोको, कामतो जायती भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१५॥

कामतो जायते शोकः, कामतो जायते भयम्।
कामतो विप्रमुक्तस्य, नास्ति शोकः कुतो भयम्! ॥ २१५ ॥

२१५. काम (वासना) से शोक उत्पन्न होता है, तथा काम से भय भी उत्पन्न होता है। काम से मुक्त पुरुष को कोई शोक नहीं सताता, फिर भय की तो बात कहाँ है!

६. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१६ ॥

तृष्णया जायते शोकः, तृष्णया जायते भयम्।
तृष्णया विप्रमुक्तस्य, नास्ति शोकः कुतो भयम्! ॥ २१६ ॥

२१६. तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, तथा तृष्णा से भय भी उत्पन्न होता है। तृष्णाविहीन पुरुष को न शोक होता है, न भय॥

७. पाँच सौ बालकों को : : राजगृह, वेणुवन में

सीलदस्सनसम्पन्नं, धम्मट्ठं सच्चवेदिनं।
अत्तनो कम्म कुब्बानं, तं जनो कुरुते पियं॥ २१७॥

शीलदर्शनसम्पन्नं, धर्मस्थं सत्यवादिनम्।
आत्मनः कर्म कुर्वन्तं, तं जनः कुरुते प्रियम्॥ २१७।

२१७. जो भिक्षु शील तथा ज्ञान (दर्शन) से सम्पन्न है, जो धर्मिष्ठ है, सत्यवादी है, जो अपने उत्तरदायित्व (तीनों शिक्षाओं) को पूर्णता तक पहुँचा देने वाला है, बुद्धिमान् लोग ऐसे पुरुष को 'प्रिय' बना ही लेते हैं॥

८. कोई अनागामी स्थविर : : श्रावस्ती, जेतवन में

छन्दजातो अनक्खाते, मनसा च फुटो सिया।
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो, उद्धंसोतो ति वुच्चति॥ २१८ ॥

अनाख्याते छन्दजातो, मनसा च स्फुटो भवेत्।
अबद्धचित्तः कामेषूर्ध्वस्रोता अभिधीयते॥ २१८ ॥

२१८. अनिर्वचनीय (अवर्णनीय=निर्वाण) के प्रति जिसकी इच्छा उत्पन्न हो गयी है, जो मन से स्पष्ट (असन्दिग्ध) हो गया है, जिसका चित्त किसी भी कामना से आबद्ध नहीं है, वही ऊर्ध्वस्रोता कहा जाता है॥

९. नन्दिय कुलपुत्र को : : ऋषिपतन, वाराणसी में

चिरप्पवासिं पुरिसं, दूरतो सोत्थिमागतं।
ञातिमित्ता सुहज्जा च, अभिनन्दन्ति आगतं॥ २१९ ॥

जनं प्रवासिनं कश्चिद् दूरतः स्वस्थमागतम्।
सुहृदो ज्ञातिमित्राणि, अभिनन्दन्ति चागतम्॥ २१९ ॥

२१९. (जैसे यहाँ) दूर से कुशलतापूर्वक आये हुए, बहुत समय से प्रवासी पुरुष का उसके सम्बन्धी जन एवं मित्रगण प्रसन्नतापूर्वक अभिनन्दन करते हैं॥

तथेव कतपुञ्ञं पि, अस्मा लोका परं गतं।
पुञ्ञानि पटिगण्हन्ति, पियं ञातीव आगतं॥ २२०॥

पियवग्गो निट्ठितो॥

तथैव कृतपुण्यं तम्, अस्माल्लोकात् परं गतम्।
पुण्यानि प्रतिगृह्णन्ति, प्रियं ज्ञातिमिवागतम्॥ २२०॥

२२०. उसी प्रकार, इस लोक से परलोक में गये हुए पुण्यवान् पुरुष का भी, उसके पुण्यकर्म, प्रिय ज्ञाति भाई के समान, स्वागत करते हैं॥

प्रियवर्ग षोडश सम्पन्न॥

✿

१७. क्रोधवग्गो सत्तरसमो

१७. क्रोधवर्ग सप्तदश

१. रोहिणी नामक क्षत्रिय कन्या को : : कपिलवस्तु, न्यग्रोधाराम में

कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं, संयोजनं सब्बमतिक्कमेय्य।
तं नामरूपस्मिमसज्जमानं, अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा॥ २२१॥

क्रोधं जहीत, प्रजहीत मानं, संयोजनं सर्वमतिक्रमध्वम्।
असज्यमानं खलु नामरूपयोरकिञ्चनं नानुपतन्ति तापाः॥ २२१॥

२२१. क्रोध का त्याग कर देना चाहिये। वृथाभिमान से दूर रहना चाहिये। सभी संयोजनों (बन्धनों) का त्याग कर (साधना में) आगे बढ़ना चाहिये। ऐसे नाम एवं रूप में अनासक्त रहने वाले अकिञ्चन पुद्गल पर सांसारिक दुःख किसी प्रकार का आक्रमण नहीं कर सकते॥

२. किसी भिक्षु को : : अग्गाळव चैत्य (आळवी नगर) में

यो वे उप्पतितं कोधं, रथं भन्तं व धारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥ २२२॥

यो वै क्रोधमुत्पतितं, रथं भ्रान्तं च धारयेत्।

तमहं सारथिं वच्मि, रश्मिग्राहोऽपरो जनः॥ २२२॥

२२२. जो पुरुष स्वचित्त में उत्पन्न क्रोध को, बहके हुए (भ्रान्त) रथ के समान, रोक लेता है, उसी को मैं सच्चा (वास्तविक) सारथि मानता हूँ। अवशिष्ट जनों को केवल घोड़ों की रश्मियाँ (लगाम) पकड़ने वाला ही समझना चाहिये॥

३. उत्तरा उपासिका को : : राजगृह, वेणुवन में

अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालिकवादिनं॥ २२३॥

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन, सत्येनालीकवादिनम्॥ २२३॥

२२३. साधक अक्रोध (क्षमा) द्वारा क्रोध को जीते। असाधु (असभ्य=निन्दक) को अपने सद्व्यवहार से जीते। कञ्जूस (कदर्य) को दान के द्वारा जीते। तथा असत्यभाषी को अपने सत्यभाषण से जीते॥

४. महामौद्गल्यायन स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

सच्चं भणे न कुज्झेय्य, दज्जा अप्पं पि याचितो।
एतेहि तीहि ठानेहि, गच्छे देवान सन्तिके॥ २२४॥

सत्यं भणेन्न क्रुध्येद्वै, दद्यादल्पं नु याचितम्।
प्राप्नोति देवतावासं स्थानैरेभिस्त्रिभिर्नरः॥ २२४॥

२२४. सदा सत्य बोले, किसी पर भी क्रोध न करे, किसी सत्पात्र द्वारा माँगे जाने पर कुछ न कुछ (अल्प अंश ही) दे दे—साधक इन तीन बातों का पालन करते हुए देवलोक पहुँचने का अपना मार्ग बनावे॥

५. कुछ भिक्षुओं के प्रश्न का उत्तर : : साकेत, अञ्जनवन

अहिंसका ये मुनयो, निच्चं कायेन संवुता।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं, यत्थ गन्त्वा न सोचरे॥ २२५॥

अहिंसका ये मुनयो, नित्यं कायेन संवृताः।
ते गच्छन्त्यच्युतं स्थानं, यत्र गत्वा न चिन्त्यते॥ २२५॥

२२५. जो साधक अहिंसाव्रतधारी हैं, तथा शरीर से सदैव संयत जीवन बिताते हैं; वे अच्युत (कभी पतित न होने वाले=निर्वाण) स्थान को ही प्राप्त करते हैं। जहाँ पहुँच कर वे वीतशोक हो जाते हैं॥

६. पूर्णा दासी को : : राजगृह के वेणुवन में

सदा जागरमानानं, अहोरत्तानुसिक्खिनं।
निब्बानं अधिमुत्तानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा॥ २२६॥

सदैव जाग्रतां शिक्षाकामानां च दिवानिशम्।

निर्वाणमधिमुक्तानामस्तं गच्छन्ति आश्रवाः ॥ २२६ ॥

२२६. सदैव जाग्रत् रहने वाले, दिन रात तीनों शिक्षाओं का अभ्यास करने वाले तथा निर्वाण के प्रति सतत अभ्यास करने वाले साधकों के चित्तविकार (आश्रव) क्षीण हो जाते हैं ॥

७. अतुल उपासक को : : श्रावस्ती, जेतवन में

पोराणमेतं अतुल, नेतं अज्जतनामिव।
निन्दन्ति तुण्हिमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनं।
मितभाणिं पि निन्दन्ति, नत्थि लोके अनिन्दितो॥ २२७॥

पौराणमेतदतुल! नैतदद्यतनमिव।
निन्दन्ति तूष्णीमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनम्॥
निन्दन्ति मितवक्तारं, नास्ति लोके ह्यनिन्दितः॥ २२७॥

२२७. अतुल! यह बात बहुत पुरानी हो चुकी है। कोई आज नयी बात नहीं कह रहे हो। चुप रहने वाले पुरुष की लोग निन्दा करने लगते हैं, इसी तरह बहुत बोलने वाले का भी लोग अधिक सम्मान नहीं करते। ऐसा कौन है, जिसकी लोक में निन्दा न होती हो॥

न चाहु न च भविस्सति, न चेतरहि विज्जति।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो॥ २२८॥

न चाभून्न भविष्यति, नेदानीमस्ति कश्चन।
एकान्तं पुरुषो निन्द्यः, एकान्तं वा प्रशंसितः॥ २२८॥

२२८. ऐसा कोई पुरुष इस लोक में न हुआ है, न वर्तमान समय में है, न आगे होगा जो लोक में एकान्ततः निन्दा का पात्र या प्रशंसा का पात्र ही हो॥

यं चे विञ्ञू पसंसन्ति, अनुविच्च सुवे सुवे।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं, पञ्ञासीलसमाहितं॥ २२९॥

यं चेद् विज्ञाः प्रशंसन्ति, अनुविच्य दिनं दिनम्।
अच्छिद्रवृत्तिं सुधियं, प्रज्ञाशीलसमाहितम्॥ २२९॥

२२९. हाँ, पण्डित जन किसी निश्छल चरित्र वाले मेधावी तथा प्रज्ञा एवं शील से सम्पन्न पुरुष की, प्रतिदिन सूक्ष्मेक्षिकया विचार करते हुए, प्रशंसा ही किया करते हैं॥

निक्खं जम्बोनदस्सेव, को तं निन्दितुमरहति।
देवा पि नं पसंसन्ति, ब्रह्मुना पि पसंसितो॥ २३०॥

निष्कं जम्बूनदस्येव, कस्तं निन्दितुमर्हति!
देवा अपि प्रशंसन्ति, ब्रह्मणापि प्रशंसितः॥ २३०॥

२३०. (क्योंकि) शुद्ध सुवर्ण से बनी हुई मुद्रा की कौन निन्दा कर सकता है! देवता भी वैसे साधक की प्रशंसा करते हैं, ब्रह्मा द्वारा भी वह प्रशंसा प्राप्त है ही॥

८. षड्वर्गीय भिक्षुओं को : : राजगृह के वेणुवन में

कायप्पकोपं रक्खेय्य, कायेन संवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा, कायेन सुचरितं चरे॥ २३१॥

कायप्रकोपं रक्षेद्वै, कायेन संवृतो भवेत्।
कायदुश्चरितं हित्वा, कायेन (सु) चरितं चरेत्॥ २३१॥

२३१. साधक त्रिविध कायदुश्चरितों से अपने को बचावे। काया की चेष्टाओं के विषय में संयम रखे। इतना ही नहीं, वह इन कायदुश्चरितों से दूर रहता हुआ काया से निरन्तर सदाचरण का ही प्रयास करता रहे॥

वचीपकोपं रक्खेय्य, वाचाय संवुतो सिया।
वचीदुच्चरितं हित्वा, वाचाय सुचरितं चरे॥ २३२॥

वाक्प्रकोपं च रक्षेद्वै, वचसा संवृतो भवेत्।
वचोदुश्चरितं हित्वा, वाचा सुचरितं चरेत्॥ २३२॥

२३२. साधक त्रिविध वाग्दुश्चरितों से...पूर्ववत्...करता रहे॥

मनोपकोपं रक्खेय्य, मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे॥ २३३॥

मनःप्रकोपं रक्षेद्वै, मनसा संवृतो भवेत्।
मनोदुश्चरितं हित्वा, मनसा (सु) चरितं चरेत्॥ २३३॥

२३३. साधक त्रिविध मनोदुश्चरितों से...पूर्ववत्...करता रहे॥

कायेन संवुता धीरा, अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा, ते वे सुपरिसंवुता॥ २३४॥ ●

कोधवग्गो निट्ठितो॥

कायेन संवृता धीराः, अथ वाचा सुसंवृताः।
मनसा संवृता धीराः, ते वै सुपरिसंवृताः॥ २३४॥

२३४. जो धैर्यवान् साधक काया की चेष्टाओं में, वाणी की चेष्टाओं में, मन की चेष्टाओं में संयत हैं, वे ही वस्तुतः इस लोक में सुष्ठुतापूर्वक संयत माने जाते हैं॥

क्रोधवर्ग सप्तदश सम्पन्न॥

✿

१८. मलवग्गो अट्ठारसमो

१८. मलवर्ग अष्टादश

१. गोघातकपुत्र को : : श्रावस्ती, जेतवन में

पण्डुपलासो व दानिसि, यमपुरिसा पि च ते उपट्ठिता।
उय्योगमुखे च तिट्ठसि, पाथेय्यं पि च ते न विज्जति॥ २३५॥

पाण्डुपलाशवदिदानीमसि, यमपुरुषा अपि त्वामुपस्थिताः।
उद्योगमुखे च तिष्ठसि, पाथेयमपि ते न विद्यते॥ २३५॥

२३५. अब तुम्हारा शरीर वृक्ष के पके हुए पत्र के समान पीला दिखायी दे रहा है। यमराज (मृत्यु) के दूत तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो गये हैं। तुम वियोग (हानि) के मुख (मुहाना) पर खड़े हो; परन्तु तुम्हारे पास परलोक में जाते समय कोई पाथेय (पुण्यकर्म) भी नहीं है॥

सो करोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, दिब्बं अरियभूमिं उपेहिसि॥ २३६॥

स द्वीपमात्मनः कुरु, क्षिप्रं व्यायच्छ, पण्डितो भव।
निर्धूतमलो निरञ्जनो, दिव्यां प्राप्स्यस्यार्यजनस्य भूमिम्॥ २३६॥

२३६. अतः तुम अपना एक द्वीप (शरणस्थल) बना लो, आध्यात्मिक साधना का शीघ्र ही प्रयास आरम्भ करो। पण्डित बन कर अपने प्रत्येक कर्म का अनुवीक्षण करो। तुम अपने सभी चित्तविकार नष्ट कर तथा पापरहित होकर ही दिव्य आर्यभूमि तक पहुँच पाओगे॥

उपनीतवयो च दानिसि, सम्पयातोसि यमस्स सन्तिके।
वासो ते नत्थि अन्तरा, पाथेय्यं पि च ते न विज्जति॥ २३७॥

अपनीतवयाश्च साम्प्रतं, संयातोऽसि यमस्य सन्तिकम्।
वासोऽपि च ते नु नास्ति मध्ये, पाथेयमपि ते न विद्यते॥ २३७॥

२३७. तुम्हारे आयुःसंस्कार समाप्त हो चुके हैं। तुम शनैः शनैः यमराज (मृत्यु) के समीप पहुँचते जा रहे हो। मध्य में (कुछ समय की स्थिति के लिये) कोई वासस्थान (शरणस्थल) भी नहीं है। तथा तुम्हारे पास न कोई पाथेय (यात्रा-भोजन) ही है॥

सो करोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, न पुन जातिजरं उपेहिसि॥ २३८॥

स कुरु द्वीपमात्मनः, क्षिप्रं व्यायच्छ, पण्डितो भव।
निर्धूतमलो निरञ्जनो, न पुनर्जातिजरे उपैष्यसि॥ २३८॥

२३८. अतः तुम स्वयं अपना एक द्वीप (शरणस्थल) बना लो। आध्यात्मिक साधना में शीघ्र ही (क्षिप्र) लग जाओ। सब कार्य बुद्धिमत्तापूर्वक सम्पन्न करो। इस तरह, तुम निर्मल एवं निष्पाप होते हुए जन्म एवं जरा (बुढापा) के जाल से छूट पाओगे॥

२. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

अनुपुब्बेन मेधावी, थोकंथोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव, निद्धमे मलमत्तनो॥ २३९॥

आनुपूर्व्येण मेधावी, स्तोकं स्तोकं क्षणे क्षणे।
कर्मारो रजतस्येव, निर्धमेन्मलमात्मनः॥ २३९॥

२३९. जिस प्रकार सुवर्णकार चाँदी के मल (दोष) को क्षण क्षण क्रमशः थोड़ा थोड़ा जलाता रहता है; उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष को क्रमशः क्षण क्षण अपना थोड़ा थोड़ा चित्तविकार हटाते रहना चाहिये॥

३. तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

अयसा व मलं समुट्ठितं, तदुट्ठाय तमेव खादति।
एवं अतिधोनचारिनं, सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं॥ २४०॥

अयस इव मलं समुत्थितं, तत उत्थाय तदेव खादति।
एवमतिधावनचारिणं स्वानि कर्माणि नयन्ति दुर्गतिम्॥ २४०॥

२४०. जिस प्रकार लोह का उत्पन्न मल उससे निकल कर उसी को खा जाता है; उसी प्रकार शील (सदाचार) का अतिक्रमण करने वाले को उसके स्वयंकृत कर्म ही उसको दुर्गति की ओर ले जाते हैं॥

४. लाडुदायी स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

असज्झायमला मन्ता, अनुट्ठानमला घरा।
मलं वण्णस्स कोसज्जं, पमादो रक्खतो मलं॥ २४१॥

अस्वाध्यायमला मन्त्राः, अनुत्थानमलं गृहम्।
मलं वर्णस्य कौसीद्यं, प्रमादो रक्षतो मलम्॥ २४१॥

२४१. अल्प धर्मज्ञान (मन्त्र) का निरन्तर स्वाध्याय न करना भी मल (मैल) है। प्रतिवर्ष आवास का जीर्णोद्धार न करना भी मल है। आलस्य वर्ण (रूप) का मल है। तथा रक्षक का प्रमत्त (असावधान) होना मल है॥

५. किसी कुलपुत्र को : : राजगृह, वेणुवन में

मलित्थिया दुच्चरितं, मच्छेरं ददतो मलं।
मला वे पापका धम्मा, अस्मिं लोके परम्हि च॥ २४२॥

स्त्रिया मलं दुश्चरितं, मात्सर्यं ददतो मलम्।
मलं वै पापका धर्माः, अस्मिन् लोके परत्र च॥ २४२॥

२४२. दुश्चरित होना स्त्री का मल है; इसी तरह दान में कञ्जूसी करना, तथा इस लोक या परलोक में किये गये अकुशल (पाप) कर्म—ये तीनों बातें 'मल' कहलाती हैं॥

ततो मला मलतरं, अविज्जा परमं मलं।

एतं मलं पहन्त्वान, निम्मला होथ भिक्खवो॥ २४३॥

ततो मलान्मलतरम्, अविद्या परमं मलम्।

प्रहायैतन्मलं यूयं, निर्मलाः सन्तु भिक्षवः॥ २४३॥

२४३. तथा अविद्या (अज्ञान) इन सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट मल है। अत: भिक्षुओ! ये सब मल त्याग कर निर्मल बनो॥

६. सारिपुत्र के शिष्य चूळसारि को : : श्रावस्ती, जेतवन में

सुजीवं अहिरिकेन, काकसूरेन धंसिना।

पक्खन्दिना पगब्भेन, सङ्किलिट्ठेन जीवितं॥ २४४॥

सुजीवमह्रीकेण, काकशूरेण ध्वंसिना।

प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन, संक्लिष्टेन सुजीवितम्॥ २४४॥

२४४. निर्लज्ज कौए के समान शूर, दूसरे का अहित करने वाले, मिथ्या छलांग लगा कर पतित होने वाले, प्रगल्भ (चतुर) तथा पापी का जीवन सुख से बीतता है॥

हिरीमता च दुज्जीवं, निच्चं सुचिगवेसिना।

अलीनेनाप्पगब्भेन, सुद्धाजीवेन पस्सता॥ २४५॥

ह्रीमता च नु दुर्जीवं, नित्यं शुचिगवेषिणा।

अलीनेनाप्रगल्भेन, शुद्धाजीवेन पश्यता॥ २४५॥

२४५. (परन्तु) लज्जावान्, नित्य पवित्रता के गवेषक, आलस्यविहीन, मितभाषी, शुद्ध जीविका वाले, ज्ञानी पुरुष का जीवन (भौतिक रूप से) कठिनता से बीतता है॥

७. पाँच उपासकों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

यो पाणमतिपातेति, मुसावादं च भासति।

लोके अदिन्नमादियति, परदारं च गच्छति॥ २४६॥

यः प्राणमतिपातयति, मृषावादं च भाषते।

लोके चादत्तमादत्ते, परदारांश्च गच्छति॥ २४६॥

२४६. जो प्राणियों की हिंसा करता है, जो असत्य बोलता है, जो लोक में न दी गयी वस्तु को चौरी से ले लेता है, तथा परस्त्रीगमन करता है॥

सुरामेरयपानं च, यो नरो अनुयुञ्जति।

इधेव मेसो लोकस्मिं, मूलं खणति अत्तनो॥ २४७॥

सुरामैरेयपानं च, यो युनक्ति नरः सदा।

इहैवमेष लोके वै, मूलं खनति चात्मनः॥ २४६॥

२४७. जो पुरुष मद्यपान का अभ्यासी हो चुका है, वह मानो इसी लोक में अपनी जड़ें खोदता है॥

एवं भो पुरिस जानाहि, पापधम्मा असञ्ञता।

मा तं लोभो अधम्मो च, चिरं दुक्खाय रन्धयुं॥ २४८॥

एवं भोः पुरुष! जानीहि, पापधर्मा असंयताः।

मा त्वां लोभो न्वधर्मश्च चिरं दुःखाय रन्धतु॥ २४८॥

२४८. हे पुरुष! इसलिये यह जान ले कि संयमरहित लोग लोक में 'पापकर्ता' कहलाते हैं। ऐसा न हो कि तुझे लोभ एवं अधर्म चिरकाल तक जलाते रहें॥

८. तिष्य युवक को : : श्रावस्ती, जेतवन में

ददाति वे यथासद्धं, यथापसादनं जनो।

तत्थ यो मङ्कु भवति, परेसं पानभोजने।

न सो दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति॥ २४९॥

ददाति वै यथाश्रद्धं, यथाप्रीति च यो जनः।

यस्तत्र मूको भवति, परेषां पानभोजने।

दिवा वा यदि वा रात्रौ समाधिं नाधिगच्छति॥ २४९॥

२४९. दानी पुरुष अपनी श्रद्धा एवं स्नेह के अनुसार दान में प्रवृत्त होता है। वहाँ जो दूसरों को मिलने वाले पान या भोजन में किसी को उत्साहहीन बनाता है, वह दिन या रात्रि में कभी शान्ति (चित्त की स्थिरता) प्राप्त नहीं कर पाता॥

यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं।

स वे दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति॥ २५०॥

यस्य चैतत् समुच्छिन्नं, मूलघात्यं समुद्धतम्।

दिवा वा यदि वा रात्रौ समाधिं सोऽधिगच्छति॥ २५०॥

२५०. परन्तु जिस पुरुष का ऐसा ईर्ष्याभाव उसके चित्त से निवृत्त हो चुका है या समूल नष्ट हो चुका है, ऐसा पुरुष दिन रात शान्तचित्त होकर समाधिनिष्ठ रहता है॥

९. पाँच उपासकों को : : श्रावस्ती के जेतवन में

नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो गहो।

नत्थि मोहसमं जालं, नत्थि तण्हासमा नदी॥ २५१॥

नास्ति रागसमो वह्निः, नास्ति द्वेषसमो ग्रहः।

नास्ति मोहसमं जालं, नास्ति तृष्णासमा नदी॥ २५१॥

२५१. राग के समान कोई अग्नि नहीं है, द्वेष के समान कोई ग्रह नहीं है। मोह के समान कोई जाल नहीं है, तथा तृष्णा के समान कोई नदी नहीं॥

१०. मेण्डक श्रेष्ठी को : : भद्दियनगर के जातिवन में

सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं, अत्तनो पन दुद्दसं।

परेसं हि सो वज्जानि, ओपुनाति यथा भुसं।

अत्तना पन छादेति, कलिं व कितवा सठो॥ २५२॥

सुदर्शं वद्यमन्येषाम्, दुर्दर्शं पुनरात्मनः।
परेषां स हि वद्यान्यवपुनाति यथा बुसम्।
छादयत्यात्मनो भूयः कलिमिव कितवाच्छठः॥ २५२॥

२५२. दूसरों के दोष देखना सरल है; किन्तु अपने दोष देख पाना उतना सरल नहीं होता। यह दूसरे के दोषों को भूसे की तरह उछालता रहता है; परन्तु अपने दोषों को उसी तरह छिपाता है जैसे धूर्त जुआरी अपने पासे छिपाये रखता है॥

११. उज्झानसञ्ज्ञी नामक स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

परवज्जानुपस्सिस्स, निच्चं उज्झानसञ्ञिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति, आरा सो आसवक्खया॥ २५३॥

उद्ध्यानसंज्ञिनो नित्यं परवद्यं प्रपश्यतः।
आसवास्तस्य वर्धन्ते, आरात् स आसवक्षयात्॥ २५३॥

२५३. निरन्तर दूसरों के दोष ही देखने वाले या सदैव दूसरों से ईर्ष्या करने वाले का चित्तमल ही बढ़ता है। वह अपने चित्तमलक्षय (निर्वाण) के पार नहीं जा सकता। अर्थात् वह निर्वाण से दूर ही रहता है॥

१२. सुभद्र परिव्राजक को : : शालवन, कुसिनारा में

आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
पपञ्चाभिरता पजा, निप्पपञ्चा तथागता॥ २५४॥

आकाशे च पदं नास्ति, श्रमणो नास्ति बाह्यतः।
प्रजाः प्रपञ्चाभिरताः, निष्प्रपञ्चास्तथागताः॥ २५४॥

२५४. आकाश में पद (उसका वर्ण या आकार आदि) नहीं है, बाह्य सम्प्रदायों के साधनामार्ग से श्रमण बनना भी सम्भव नहीं है। साधारण लोग सांसारिक प्रपञ्चों में व्यासक्त हैं, परन्तु तथागत बुद्ध इन प्रपञ्चों से दूर हैं॥

आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
सङ्खारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं॥ २५५॥

मलवग्गो निट्ठितो॥

आकाशे च पदं नास्ति, श्रमणो नास्ति बाह्यतः।
संस्काराः शाश्वता नैव, बुद्धानामस्ति नेङ्गितम्॥ २५५॥

२५५. आकाश में पद...पूर्ववत्...कोई श्रमण नहीं बन सकता। संस्कारों को शाश्वत (स्थायी) नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत, बुद्ध ही शाश्वत हैं, इनमें अस्थिरता नहीं होती॥

मलवग्ग अष्टादश सम्पन्न॥

✿

१९. धम्मट्ठवग्गो एकूनवीसतिमो

१९. धर्मस्थवर्ग एकोनविंश

१. विनिश्चय महामात्य को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न तेन होति धम्मट्ठो, येनत्थं साहसा नये।
यो च अत्थं अनत्थं च, उभो निच्छेय्य पण्डितो॥ २५६॥

तेन नास्ति स धर्मस्थो, येनार्थं साहसान्नयेत्।
अर्थानर्थावुभौ यश्च, निश्चिनुयात् स पण्डितः॥ २५६॥

२५६. जो न्यायाधीश (निर्णायक) सोचे समझे विना अन्यायपूर्वक निर्णय देता है, वह 'धर्मपूर्वक निर्णय देने वाला' नहीं कहलाता। अर्थ, अनर्थ—दोनों पर विचार कर जो निर्णय देता है वही 'पण्डित' (सत्यवादी न्यायाधीश) कहलाता है॥

असाहसेन धम्मेन, समेन नयती परे।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी, धम्मट्ठो ति पवुच्चति॥ २५७॥

असाहसेन धर्मेण, समेन नयते परान्।
धर्मस्य गुप्तो मेधावी, धर्मस्थ इति प्रोच्यते॥ २५७॥

२५७. जो दुःसाहस न करता हुआ धर्मपूर्वक, दोनों पक्षों से तटस्थ रहता हुआ बुद्धिमत्ता के साथ धर्मयुक्त न्याय करता है वही सच्चा 'न्यायाधीश' कहलाता है॥

२. षड्वर्गीय भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न तेन पण्डितो होति, यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो, पण्डितो ति पवुच्चति॥ २५८॥

पण्डितो नहि तेनास्ति, यावता बहु भाषते।
क्षेमी ह्यवैरी ह्यभयः, पण्डित इति कथ्यते॥ २५८॥

२५८. इससे कोई 'पण्डित' नहीं हो जाता कि वह बहुत बोलता है। अपितु जो शान्तिप्रिय (क्षेमी) है, सबके प्रति मित्रता रखता है, दूसरों को अभय प्रदान करने वाला है वही 'पण्डित' कहलाता है॥

३. एकोदान स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न तावता धम्मधरो, यावता बहु भासति।
यो च अप्पं पि सुत्वान, धम्मं कायेन पस्सति।
स वे धम्मधरो होति, यो धम्मं नप्पमज्जति॥ २५९॥

न तावता धर्मधरो, यावता बहु भाषते।
यश्चाल्पमपि श्रुत्वैव, धर्मं कायेन पश्यति।
स वै धर्मधरः प्रोक्तः, यो धर्मान्न प्रमाद्यति॥ २५८॥

२५९. इतने से ही किसी को 'धर्मधर' कैसे मान लिया जाय कि वह बहुत बोलता है! अपितु जो अल्प श्रवण करके भी उसी (अल्पश्रुत) के माध्यम से धर्माराधना करता है, तथा जो धर्म के विषय में कभी प्रमाद नहीं करता, वस्तुतः वही 'धर्मधर' है॥

४. लकुण्टकभद्दिय स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न तेन थेरो सो होति, येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स, 'मोघजिण्णो' ति वुच्चति॥ २६०॥
स्थविरो नहि तेनास्ति, येनास्य पलितं शिरः।
परिपक्कं वयस्तस्य, 'मोघजीर्णः' स उच्यते॥ २६०॥

२६०. किसी के शिर के बाल श्वेत हो गये हों तो इतने मात्र से कोई 'स्थविर' कहलाने का अधिकारी नहीं हो जाता। उसकी आयु अवश्य परिपक्व हो गयी, परन्तु वह 'व्यर्थ वृद्ध' कहलाता है॥

यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो, 'थेरो' इति पवुच्चति॥ २६१॥
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च, अहिंसा संयमो दमः।
स वै वान्तमलो धीरः, स्थविर इति कथ्यते॥ २६१॥

२६१. हाँ, जिस साधक पुरुष में सत्य, अहिंसा, शील तथा इन्द्रियसंयम है वही विकाररहित (निर्मल), धैर्यशाली एवं 'स्थविर' कहलाता है॥

५. बहुत से भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न वाक्करणमत्तेन, वण्णपोक्खरताय वा।
साधुरूपो नरो होति, इस्सुकी मच्छरी सठो॥ २६२॥
न वाक्करणमात्रेण, वर्णाधिकतयाऽथ वा।
साधुरूपो नरः सोऽस्ति, ईर्ष्यकी मत्सरी शठः॥ २६२॥

२६२. केवल वक्ता होने के कारण, अथवा रूप एवं सौन्दर्य के कारण, ऐसा पुद्गल 'साधु' कहलाने योग्य नहीं हो जाता; क्योंकि जो दूसरों के प्रति ईर्ष्यालु हो, शठ हो, या मात्सर्यसम्पन्न हो वह 'साधु' कहलाने योग्य नहीं है॥

यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं।
स वन्तदोसो मेधावी, साधुरूपो ति वुच्चति॥ २६३॥
यस्य चैतत् समुच्छिन्नं, मूलघात्यं समूहतम्।
स वान्तदोषो मेधावी, साधुरूपः स कथ्यते॥ २६३॥

२६३. इसके विपरीत, जिसके उपर्युक्त दोष नष्ट हो चुके हैं, मूलतः उच्छिन्न हो गये हैं वह निर्दोष (निर्विकार) मेधावी साधक अवश्य 'साधु' कहलाने का अधिकारी है॥

६. हस्तक भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति॥ २६४॥
मौण्ड्येन श्रमणो नैव, अव्रतश्च मृषा भणन्।
इच्छालोभसमापन्नः, श्रमणः किं भविष्यति!॥ २६४॥

२६४. व्रत का पालन न करने वाला असत्यभाषी मनुष्य केवल मुण्डन करा लेने से 'श्रमण' नहीं हो जाता; क्योंकि इच्छा एवं लोभ से युक्त पुरुष श्रमण क्या बनेगा!॥

यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं, समणो ति पवुच्चति॥ २६५॥
यः शमयति पापानि, अणुस्थूलानि सर्वशः।
शमितत्वाद्धि पापानां, श्रमण इति कथ्यते॥ २६५॥

२६५. हाँ, जो अपने छोटे या बड़े पापों (अकुशल कर्मों) का सर्वथा शमन करता रहता है, इस कारण, वही श्रमण कहलाने का अधिकारी है॥

७. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता॥ २६६॥
न तेन भिक्षुर्भवति, यावता भिक्षते परान्।
विषमं धर्ममादाय भिक्षुः स्यान्नैव तावता॥ २६६॥

२६६. दूसरों के घरों में जाकर केवल भिक्षा माँगते रहने से कोई 'भिक्षु' कहलाने का अधिकारी नहीं हो जाता। वह विषम धर्मों से भी सम्पृक्त रहे तथा भिक्षु भी कहलाना चाहे—दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं॥

योध पुञ्ञं च पापं च, बाहेत्वा ब्रह्मचरियवा।
सङ्खाय लोके चरति, स वे भिक्खू ति वुच्चति॥ २६७॥
वाहयित्वा पुण्यपापं, भवति ब्रह्मचर्यवान्।
लोके चरति सङ्ख्यातः, स वै भिक्षुरिहोच्यते॥ २६७॥

२६७. इसके विपरीत जो इस लोक में पाप पुण्ययुक्त धर्मों का त्याग कर ब्रह्मचर्यपूर्वक ज्ञानमार्ग से विचरण करता है वही वास्तविक 'भिक्षु' होता है॥

८. अन्य सम्प्रदाय के परिव्राजकों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न मोनेन मुनी होति, मूळ्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं व पग्गय्ह, वरमादाय पण्डितो॥ २६८॥
मौनेन तु मुनिर्नैव, सोऽविद्वान् मूढसंज्ञकः।
तुलावद् यश्च प्रगृह्य वरमादाय पण्डितः॥ २६८॥

२६८. जो मूर्ख मनुष्य उस विषय का ज्ञाता नहीं होता वह केवल मौन धारण करने मात्र से 'मुनि' नहीं हो जाता। जो मनुष्य तुला के समान, अच्छे बुरे को ग्रहण कर उन्हें तौल कर अशुभ को त्याग देता है तथा शुभ को ग्रहण करता है वही बुद्धिमान् है॥

पापानि परिवज्जेति, स मुनी तेन सो मुनि।
यो मुनाति उभो लोके, मुनि तेन पवुच्चति॥ २६९॥

परिवर्जयति पापानि, स मुनिस्तेन स मुनिः।
मनुते य उभौ लोकौ, मुनिस्तेन स कथ्यते॥ २६९॥

२६९. पापों का परित्याग करता रहता है, अतः वह 'मुनि' कहलाने का अधिकारी है। जो दोनों लोकों का मनन करता है वह भी 'मुनि' ही कहलाता है॥

९. आर्य बाडिशिक को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियो ति पवुच्चति॥ २७०॥

न च तेन स आर्यःस्यात्, येन प्राणान् हिनस्ति सः।
अहिंस्रः सर्वप्राणानामार्य इति स कथ्यते॥ २७०॥

२७०. जो प्राणियों की हिंसा करता है वह मनुष्य 'आर्य' कैसे हो सकता है! क्योंकि सब प्राणियों के प्रति लोक में अहिंसक वृत्ति (मैत्रीभावना) रखने वाला ही 'आर्य' कहलाता है॥

१०. बहुत से शीलादिसम्पन्न भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न सीलब्बतमत्तेन, बाहुसच्चेन वा पन।
अथ वा समाधिलाभेन, विवित्तसयनेन वा॥ २७१॥

न शीलव्रतमात्रेण, बाहुश्रुत्येन वा पुनः।
समाधिलाभमात्रेण, विविक्तशयनेन वा॥ २७१॥

२७१. भिक्षुओ! केवल सदाचार एवं धुताङ्ग व्रत धारण करने से, सत्यभाषण से, समाधिलाभ से, या केवल एकान्त में शयनासन लगाने मात्र से॥

फुसामि नेक्खम्मसुखं, अपुथुज्जनसेवितं।
भिक्खु विस्सासमापादि, अप्पत्तो आसवक्खयं॥ २७२॥

धम्मट्ठवग्गो निट्ठितो॥

स्पृशामि नैष्काम्यसुखम्, अपृथग्जनसेवितम्।
भिक्षो! विश्वासं मा पादीः, अप्राप्त्वा आश्रवक्षयम्॥ २७२॥

२७२. 'मैं अपृथग्जनों से सेवित नैष्काम्य सुखों का अनुभव कर सकता हूँ'—ऐसा विश्वास तब तक नहीं करना चाहिये, जब तक कि साधक आश्रवक्षय (क्षीणाश्रव) की स्थिति में न पहुँच जाय॥

धर्मस्थवर्ग एकोनविंश सम्पन्न॥

२०. मग्गवग्गो वीसतिमो

२०. मार्गवर्ग बीसवाँ

१. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो, सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं, द्विपदानं च चक्खुमा॥ २७३॥

मार्गेष्वष्टाङ्गिकः श्रेष्टः, सत्येष्वार्यचतुष्टयम्।
श्रेष्ठो विरागो धर्मेषु, द्विपदेषु चक्षुषा युतः॥ २७३॥

२७३. आध्यात्मिक चिन्तन के उपायों (मार्गों) में अष्टाङ्गिक मार्ग ही श्रेष्ठ है। सत्यों में चार आर्यसत्य ही श्रेष्ठ हैं। धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है। तथा देवताओं एवं मनुष्यों में चक्षुष्मान् (ज्ञानवान्=तथागत) ही श्रेष्ठ है॥

एसो व मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतञ्हि तुम्हे पटिपज्जथ, मारस्सेतं पमोहनं॥ २७४॥

एष मार्गोऽस्ति, नास्त्यन्यो, दर्शनस्य विशुद्धिकृत्।
एनं हि यूयं गृह्णत, मारस्यैतत् प्रमोहनम्॥ २७४॥

२७४. दर्शन (ज्ञान) की विशुद्धि के लिये यही एकमात्र मार्ग है, अन्य कोई नहीं। तुम्हें इसी पथ का अनुसरण करना है। यह पथ (मार्ग) मार को भी मुग्ध कर उसे निस्तेज कर सकता है॥

एतञ्हि तुम्हे पटिपन्ना, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।
अक्खातो वो मया मग्गो, अञ्ञाय सल्लकन्तनं॥ २७५॥

एनं हि यूयं प्रतिपन्नाः, दुःखस्यान्तं करिष्यथ।
आख्यातो वै मया मार्गः, ज्ञात्वा शल्यस्य कृन्तनम्॥ २७५॥

२७५. यदि तुम इस पथ पर चलोगे तो, निश्चय ही, अपने सांसारिक दुःखों का नाश कर पाओगे। मेरे इस उपदेश के अनुसार चल कर तुम अपने भवकण्टक (भवरोग) का नाश कर सकोगे॥

तुम्हेहि किच्चमातप्पं, अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति, झायिनो मारबन्धना॥ २७६॥

युष्माभिः कार्यमातप्यमाख्यातारस्तथागताः।
प्रतिपन्नाः प्रमोक्ष्यन्ते, ध्यायिनो मारबन्धनात्॥ २७६॥

२७६. तुम्हें ही एतदर्थ कठिन तप (उद्योग=श्रम) करना है। तथागत तो तुम्हें केवल मार्ग का निर्देश कर सकते हैं। यह निश्चय समझ लो कि जो ध्यानी जन इस मार्ग का अनुसरण करेंगे वे अवश्य ही भवदुःख (मारबन्धन) से मुक्त हो जायँगें॥

२. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

सब्बे सङ्खारा अनिच्चा ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥ २७७॥

'अनित्याः सर्वसंस्काराः' यो हि बुद्ध्या प्रपश्यति।
निर्विन्दत्यथ दुःखानि, एष मार्गो विशुद्धिकृत्॥ २७७॥

२७७. जब कोई साधक प्रज्ञा द्वारा "सभी संस्कार अनित्य हैं"—ऐसा साक्षात्कार कर लेता है तब उसको दुःखों से विरक्ति हो जाती है। यही चित्तविशुद्धि का वास्तविक मार्ग है॥

३. उन्हीं पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

सब्बे सङ्खारा दुक्खा ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥ २७८॥

'दुःखा हि सर्वसंस्काराः' यो हि बुद्ध्या प्रपश्यति।
निर्विन्दत्यथ दुःखानि, एष मार्गो विशुद्धिकृत्॥ २७८॥

२७८. जब कोई साधक प्रज्ञा द्वारा "सभी संस्कार दुःखमय हैं"—ऐसा साक्षात्कार कर लेता है, तब उसको दुःखों के प्रति घृणा (वैराग्य) हो जाता है। यही चित्तविशुद्धि का वास्तविक मार्ग है॥

४. उन्हीं ५०० भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

सब्बे धम्मा अनत्ता ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥ २७९॥

'सर्वे धर्मा अनात्मानः' यो हि बुद्ध्या प्रपश्यति।
निर्विन्दत्यथ दुःखानि, एष मार्गो विशुद्धिकृत्॥ २७९॥

२७९. जब कोई ध्यानी अपनी प्रज्ञा द्वारा "सभी धर्म अनात्म हैं"—ऐसा साक्षात् कर कर लेता है तब वह दुःखों के प्रति वैराग्यवान् हो जाता है। यही चित्तविशुद्धि का सर्वोत्तम मार्ग है॥

५. प्रधानकार्मिक तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो, युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्नसङ्कप्पमनो कुसीतो, पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति॥ २८०॥

उत्थानकाले न करोति उत्थितिं चालस्ययुक्तोऽथ युवा बली वा।
संसन्नसङ्कल्पमनाः कुशीदः, मार्गं हि बुद्धेरलसो न विन्दति॥ २८०॥

२८०. जो उठ खड़े होने के समय उठ खड़ा नहीं होता; वह युवक एवं बलशाली भी हो, परन्तु आलस्ययुक्त होने के कारण उसके मानसिक सङ्कल्प निर्बल हों तो ऐसा दीर्घसूत्री एवं आलसी पुरुष प्रज्ञा का मार्ग नहीं प्राप्त कर पाता॥

६. शूकरप्रेत के प्रति : : राजगृह, वेणुवन में

वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो, कायेन च अकुसलं न कयिरा।
एते तयो कम्मपथे विसोधये, आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं॥ २८१॥

वाचानुरक्षो मनसा सुसंवृतः, कायेन चैवाकुशलं न कुर्यात्।
विशोधयेत् कर्मपथत्रयं वै, आराधयेन्मार्गमृषिप्रवेदितम्॥ २८१॥

२८१. मनुष्य को वाणी पर संयम रखने वाला, मन पर निग्रह रखने वाला, तथा शरीर से पापकर्म न करने वाला होना चाहिये। उसे इन तीनों कर्मपथों की विशुद्धि करते हुए ऋषियों (बुद्धों) द्वारा उपदिष्ट अष्टाङ्गिक मार्ग की आराधना करनी चाहिये॥

७. पोटलि स्थविर के प्रति : : श्रावस्ती, जेतवन में

योगा वे जायती भूरि, अयोगा भूरिसङ्खयो।
एतं द्वेधापथं ञत्वा, भवाय विभवाय च।
तथात्तानं निवेसेय्य, यथा भूरि पवड्ढति॥ २८२॥

योगाद् वै जायते भूरि, अयोगात् भूरिसंक्षयः।
एतं द्वेधापथं ज्ञात्वा, भवाय विभवाय च॥
निवेशयेत् तथात्मानं, यथा भूरि प्रवर्धते॥ २८२॥

२८२. योगाभ्यास से ज्ञान उत्पन्न होता है। योगाभ्यास न करने से ज्ञान का क्षय होता है। लाभ एवं हानि—इन द्विविध मार्गों को जान कर साधक स्वयं को इस प्रकार व्यापृत करे कि जिससे उसके ज्ञान की वृद्धि हो॥

८. पाँच वृद्ध स्थविरों के प्रति : : श्रावस्ती, जेतवन में

वनं छिन्दथ मा रुक्खं, वनतो जायते भयं।
छेत्वा वनं च वनथं च, निब्बना होथ भिक्खवो॥ २८३॥

वनं छिन्दथ, मा वृक्षं, वनतो जायते भयम्।
छित्त्वा वनं च वनथं, निर्वणाः सन्तु भिक्षवः॥ २८३॥

२८३. (वासनाओं के) वन को काटो, केवल वृक्षों को नहीं। इस वासना-वन से भय उत्पन्न होता है। वन तथा झाड़ियों को काट कर तुम वन (वासना) रहित हो जाओ॥

याव हि वनथो न छिज्जति, अणुमत्तो पि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनो व ताव सो, वच्छो खीरपको व मातरि॥ २८४॥

यावद्धि वनथोऽच्छिन्नोऽणुमात्रं नुर्हि नारीषु।
बद्धचित्तः स तावद्वै, क्षीरप इव मातरि॥ २८४॥

२८४. जब तक किसी मनुष्य द्वारा नारी में उद्भूत अणुमात्र वासना को काटा नहीं जाता; तब तक जैसे दूध पीने वाला बछड़ा अपनी माता गौ में आसक्त रहता है, उसी तरह उस मनुष्य का मन उस स्त्री में बँधा रहता है॥

९. सुवर्णकार स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

उच्छिन्न सिनेहमत्तनो, कुमुदं सारदिकं व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निब्बानं सुगतेन देसितं॥ २८५॥

आत्मनः स्नेहमुच्छिन्धि, शारदं कुमुदं यथा।
सुगतप्रोक्तनिर्वाणं, गम्यः शान्तिपथो ह्ययम्॥ २८५॥

२८५. जिस प्रकार मनुष्य शरदृतु के पुष्पों को काट डालता है, उसी प्रकार संसार में उपस्थित अपने स्नेह को काट डालो। शान्तिपथ पर आगे बढ़ते चलो, जो कि सुगत द्वारा उपदिष्ट 'निर्वाण' है॥

१०. किसी महाधन वणिक् को : : श्रावस्ती के जेतवन में

इध वस्सं वसिस्सामि, इध हेमन्तगिम्हसु।
इति बालो विचिन्तेति, अन्तरायं न बुज्झति॥ २८६॥

'वर्षास्विह वसिष्यामि, इह हेमन्तग्रीष्मयोः।'
इति बालश्चिन्तयति, अन्तरायं न बुध्यते॥ २८६॥

२८६. "यहाँ वर्षाऋतु में वास करूँगा, यहाँ हेमन्त एवं ग्रीष्मऋतु में वास करूँगा"— मूर्ख मनुष्य इसी तरह सोचता रह जाता है; परन्तु वह इसी बीच अपने जीवन पर आने वाले सङ्कटों पर ध्यान नहीं देता॥

११. कृशा गौतमी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

तं पुत्तपसुसम्मत्तं, ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो व, मच्चु आदाय गच्छति॥ २८७॥

तं पुत्रपशुसम्पृक्तं व्यासक्तमनसं नरम्।
गच्छति मृत्युरादाय सुप्तं ग्रामं महौघवत्॥ २८७॥

२८७. जिस प्रकार सोये हुए ग्राम को विशाल जलप्रवाह (औघ) बहा ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र, पशु एवं धन में व्यासक्त मन वाले पुरुष को मृत्यु घसीट कर ले जाती है॥

१२. पटाचारा थेरी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

न सन्ति पुत्ता ताणाय, न पिता ना पि बन्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स, नत्थि ञातीसु ताणता॥ २८८॥

न सन्ति पुत्रास्त्राणाय, न पिता नापि बान्धवाः।
अन्तकेनाधिपन्नस्य, त्राणतास्ति न ज्ञातिषु॥ २८८॥

२८८. मृत्यु द्वारा गृहीत पुरुष की रक्षा करने के लिये न उसके पिता में, न पुत्र में, न उसके अन्य सम्बन्धी जनों में, न बन्धु बान्धवों में ही कोई सामर्थ्य है॥

एतमत्थवसं ञत्वा, पण्डितो सीलसंवुतो।

निब्बानगमनं मग्गं, खिप्पमेव विसोधये॥ २८९॥

मग्गवग्गो निट्ठितो॥

एतमर्थवशं ज्ञात्वा पण्डितः शीलसंवृतः।
निर्वाणगमनं मार्गं क्षिप्रमेव विशोधयेत्॥ २८९॥

२८९. इस बात को जान कर, बुद्धिमान् पुरुष को शीलसम्पन्न रहते हुए निर्वाणगामी मार्ग का शोधन शीघ्र से शीघ्र कर लेना चाहिये॥

मार्गवर्ग बीसवाँ सम्पन्न॥

✿

२१. पक्किण्णकवग्गो एकवीसतिमो

२१. प्रकीर्णकवर्ग इक्कीसवाँ

१. भगवान् का स्वकर्म : : राजगृह, वेणुवन में

मत्तासुखपरिच्चागा, पस्से चे विपुलं सुखं।
चजे मत्तासुखं धीरो, सम्पस्सं विपुलं सुखं॥ २९०॥

मात्रासुखपरित्यागात् पश्येच्चेद् विपुलं सुखम्।
त्यजेन्मात्रासुखं धीरः सम्पश्यन् विपुलं सुखम्॥ २९०॥

२९०. यदि मनुष्य को अपने अल्प सुख के परित्याग से अधिक सुख की आशा दिखायी दे, तो उस धैर्यवान् पुरुष को अपना वह अल्प सुख, विपुल सुख की आशा में, त्याग देना चाहिये॥

२. कुक्कुट-अण्डखादिका को : : श्रावस्ती, जेतवन में

परदुक्खूपधानेन, अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो, वेरा सो न परिमुच्चति॥ २९१॥

परदुःखोपधानेन, आत्मनः सुखमिच्छति।
वैरसंसर्गसंसक्तो वैरान्न परिमुच्यते॥ २९१॥

२९१. दूसरों की दुःखप्राप्ति का कारण बन कर जो मनुष्य अपने सुख की इच्छा करता है, ऐसा वैर से सम्पृक्त पुरुष कभी वैर से मुक्त नहीं हो पाता॥

३. भद्दिय भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

यं हि किच्चं अपविद्धं, अकिच्चं पन कयिरति।
उन्नळानं पमत्तानं, तेसं वड्ढन्ति आसवा॥ २९२॥

यद्यत् कृत्यमपविद्धम्, भूयोऽकृत्यं करोति यः।
उन्मलानां प्रमत्तानां, तेषां वर्धन्त आश्रवाः॥२९२॥

२९२. जो तुम्हारा कर्तव्य कर्म था उसको तुमने छोड़ दिया, जो तुम्हारे लिये अकरणीय था, उसे करने में तुम उत्सुकता दिखा रहे हो। ऐसे प्रवृद्ध चित्तविकार (मल) वाले, प्रमत्त पुरुषों के आश्रव बढ़ते ही रहते हैं॥

येसं च सुसमारद्धा, निच्चं कायगता सति।
अकिच्चं ते न सेवन्ति, किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं सम्पजानानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा॥२९३॥

येषां च सुसमारब्धा, नित्यं कायगता स्मृतिः।
अकृत्यं ते न सेवन्ते, कृत्ये सातत्यकारिणः।
सतां च सम्प्रजानानामस्तं गच्छन्ति आश्रवाः॥२९३॥

२९३. इसके विपरीत, जिन साधकों की स्मृति इस अशुभ शरीर के प्रति सदा बनी रहती है, ऐसे साधक उन अकरणीय कर्तव्यों के प्रति आँख भी नहीं उठाते, तथा करणीय कर्मों के विधान में निरन्तर ध्यान लगाये रहते हैं। ऐसे स्मृतिमान् एवं सावधान (सचेत) साधकों के आश्रव (चित्तविकार) क्षीण होते ही रहते हैं॥

४. लकुण्टकभद्दिय स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो॥२९४॥

मातरं पितरं हत्वा, राजानौ द्वौ च क्षत्रियौ।
राष्ट्रं सानुचरं हत्वा, अनघो याति ब्राह्मणः॥२९४॥

२९४. (गाथा का साधारण अर्थ—) माता पिता को, दो क्षत्रिय, राजाओं को तथा अधिकारियों सहित समस्त राष्ट्र को पाँचवें एक व्याघ्र को मार (विनष्ट) कर वह भिक्षु क्षीणाश्रव बन कर जा रहा है॥

मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेयग्घपञ्चमं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो॥२९५॥

मातरं पितरं हत्वा, राजानौ द्वौ च श्रोत्रियौ।
व्याघ्रं च पञ्चमं हत्वा, अनघो याति ब्राह्मणः॥२९५॥

२९५. (गाथा का गुह्यार्थ—) तृष्णारूप माता तथा अस्मिमानरूप पिता को मार कर, शाश्वतदृष्टि एवं उच्छेददृष्टि रूप दो क्षत्रिय या दो राजाओं को मार कर यह ब्राह्मण उक्त तृष्णादि को अर्हत्त्वमार्गज्ञानरूप खड्ग से मार कर क्षीणाश्रव (निर्वाणप्राप्त=निर्दुःख) होकर जा रहा है॥

५. दारुशाकटिक के पुत्र को : : राजगृह, वेणुवन में

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं बुद्धगता सति॥ २९६॥

सुप्रबुद्धं प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, नित्यं बुद्धगता स्मृतिः॥ २९६॥

२९६. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **बुद्धविषयक** बनी रहती है, ऐसे वे गौतम (बुद्ध) के शिष्य सदैव सावधान (=प्रबुद्ध) होकर रहते हैं॥

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं धम्मगता सति॥ २९७॥

सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, नित्यं धर्मगता स्मृतिः॥ २९७॥

२९७. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **धर्मविषयक** बनी रहती है, ऐसे वे...पूर्ववत्...होकर रहते हैं॥

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं सङ्घगता सति॥ २९८॥

सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, नित्यं सङ्घगता स्मृतिः॥ २९८॥

२९८. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **सङ्घविषयक** बनी रहती है, ऐसे वे...पूर्ववत्...होकर रहते हैं॥

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं कायगता सति॥ २९९॥

सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, नित्यं कायगता स्मृतिः॥ २९९॥

२९९. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **कायगत** (शरीरगत) बनी रहती है, ऐसे वे...पूर्ववत्...होकर रहते हैं॥

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, अहिंसाय रतो मनो॥ ३००॥

सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, अहिंसायां रतं मनः॥ ३००॥

३००. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **अहिंसारत** रहती है, ऐसे वे...पूर्ववत्...होकर रहते हैं॥

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।

येसं दिवा च रत्तो च, भावनाय रतो मनो॥ ३०१॥

सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।

येषां दिवा च रात्रौ च, भावनायां रतं मनः॥ ३०१॥

३०१. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **मैत्री आदि चारों भावनाओं** में या समाधि में रहती है, ऐसे वे गौतम (बुद्ध) के शिष्य सदैव सावधान होकर रहते हैं॥

६. वृजिपुत्रक भिक्षु को : : वैशाली के महावन में

दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं, दुरावासा घरा दुखा।

दुक्खोसमानसंवासो, दुक्खानुपतितद्धगू।

तस्मा न चद्धगू सिया, न च दुक्खानुपतितो सिया॥ ३०२॥

दुष्प्रव्रजं दुरभिरमं, दुरावासं गृहं ततः।

दुःखश्चासमसंवासः, दुःखानुपतिताध्वगः।

अध्वगो न भवेत् तस्मान्न दुःखपतितो भवेत्॥ ३०२॥

३०२. संसार में (आकर) प्रव्रजित होना बहुत कठिन है। इसी तरह न रहने योग्य घर में रहना भी कठिन है। असमान स्वभाव वालों के साथ रहना तो इससे भी अधिक कठिन है। निरन्तर यात्रा करना और भी कठिन है। अतः स्वहितैषी पुरुष न निरन्तर यात्रा करे, न निरन्तर दुष्कर कार्य ही करे॥

७. चित्त गृहपति को : : श्रावस्ती, जेतवन में

सद्धो सीलेन सम्पन्नो, यसोभोगसमप्पितो।

यं यं पदेसं भजति, तत्थ तत्थेव पूजितो॥ ३०३॥

श्रद्धालुः, शीलसम्पन्नः, यशोभोगसमर्पितः।

यं यं प्रदेशं भजति, तत्र तत्रैव पूजितः॥ ३०३॥

३०३. रत्नत्रय के प्रति श्रद्धालु एवं शीलसम्पन्न तथा यश ऐश्वर्य आदि से युक्त पुरुष जहाँ जहाँ, जिस जिस स्थान में जाता है, वहाँ वहाँ उसे पूजा एवं लाभ सत्कार उपलब्ध होते ही रहते हैं॥

८. चूळसुभद्रा (अनाथपिण्डिकपुत्री) को : : श्रावस्ती, जेतवन में

दूरे सन्तो पकासेन्ति, हिमवन्तो व पब्बतो।

असन्तेत्थ न दिस्सन्ति, रत्तिं खित्ता यथा सरा॥ ३०४॥

द्योतन्ते दूरतः सन्तः, हिमवान् पर्वतो यथा।

इहासन्तो न दृश्यन्ते, रात्रौ क्षिप्ता यथा शराः॥ ३०४॥

३०४. सत्पुरुष हिमालय पर्वत के समान दूर से भी प्रकाशित होते (दिखायी देते) रहते हैं। तथा असज्जन रात्रि में फेंके गये वाण के समान, समीप होने पर भी, नहीं दिखायी देते॥

९. एकविहारी स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

एकासनं एकसेय्यं, एको चरमतन्दितो।
एको दमयमत्तानं, वनन्ते रमितो सिया॥ ३०५॥

पकिण्णकवग्गो निट्ठितो॥

एकासनम् एकशय्यां, चरन्नेको न्वतन्द्रितः।
दमयन्नेक आत्मानं, वनान्ते स रतो भवेत्॥ ३०५॥

३०५. एक ही आसन से निश्चल बैठने वाला, एक ही शयनासन का उपयोग करने वाला, एकाकी विचरण करने वाला, आलस्यरहित होकर आत्मसंयम रखने वाला साधक भिक्षु वन के किसी एकान्त प्रदेश में साधना करे॥

प्रकीर्णकवर्ग इक्कीसवाँ सम्पन्न॥

✿

२२. निरयवग्गो बावीसतिमो

२२. निरयवर्ग बाईसवाँ

१. सुन्दरी परिव्राजिका के विषय में : : श्रावस्ती, जेतवन में

अभूतवादी निरयं उपेति, यो वा पि कत्वा न करोमि चाह।
उभो पि ते पेच्च समा भवन्ति, निहीनकम्मा मनुजा परत्थ॥ ३०६॥

अभूतवादी निरयं उपैति, यो वापि कृत्वा न करोमि चाह।
उभावपि प्रेत्य समौ भविष्यतः, निहीनकृत्यौ मनुजौ परत्र॥ ३०६॥

३०६. असत्य बोलने वाला नरक में गिरता है। तथा वह भी नरक में पहुँचता है जो कोई पापकर्म किया होने पर भी पूछने पर कहता है कि यह मैंने नहीं किया। ये दोनों ही प्रकार के नीच (पाप) कर्मकर्ता पुरुष, मरणानन्तर, उस (नरक) लोक में समान दुःखभोक्ता बन जाते हैं॥

२. किसी दुश्चरित फल से पीड़ित को : : राजगृह, वेणुवन में

कासावकण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्ञता।
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं ते उपपज्जरे॥ ३०७॥

काषायकण्ठा बहवः, पापधर्मा असंयताः।
पापास्तेकर्मभिः पापैः निरयं यान्ति निश्चितम्॥ ३०७॥

३०७. बहुत से भिक्षु काषाय वस्त्र गले में डाले हुए (पहन कर) निरन्तर पापकर्म में रत रहते हैं, तथा उनका अपनी इन्द्रियों तथा काया पर कोई संयम नहीं होता। ऐसे पापी, अपने पापकर्मों के कारण, (यहाँ से देहपात के बाद) सीधे नरक में ही जा गिरते हैं॥

३. वल्गुमुदानदी-तटवासी भिक्षु को : : वैशाली के महावन में

सेय्यो अयोगुळो भुत्तो, तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो, रट्ठपिण्डमसञ्ञतो॥ ३०८॥

भुक्तं त्वयोगुलं श्रेयः, तप्तमग्निशिखोपमम्।
यच्चेद् भुञ्जीत दुःशीलो राष्ट्रपिण्डमसंयतः॥ ३०८॥

३०८. दुराचारी तथा असंयमी पुरुष के लिये राष्ट्र का अन्न खाने की अपेक्षा लोहे का उष्ण गोलक (गोला) मुख में रख लेना अधिक श्रेयस्कर है॥

४. अनाथपिण्डिकश्रेष्ठिपुत्र क्षेमक को : : श्रावस्ती, जेतवन में

चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो, आपज्जति परदारूपसेवी।
अपुञ्ञलाभं, न निकामसेय्यं, निन्दं ततीयं, निरयं चतुत्थं॥ ३०९॥

स्थानानि चत्वारि नरः प्रमत्तः, प्राप्नोत्यवश्यं परदारसेवी।
अपुण्यलाभं न निकामशय्यां, निन्दां तृतीयां, निरयं चतुर्थम्॥ ३०९॥

३०९. परदारगमन करने वाला चरित्रहीन प्रमादी पुरुष चार स्थानों (दोषों) से ग्रस्त हो जाता है—१. उसे इस कर्म से अपुण्य (पाप) मिलता है, २. वह सुविधापूर्वक सो नहीं पाता, ३. इस कुकृत्य से उसकी निन्दा होती है, एवं ४. इस अपराध के कारण, इस देहपात के बाद, उसका अन्त में नरक में गिरना अवश्यम्भावी है॥

अपुञ्ञलाभो च, गती च पापिका, भीतस्स भीताय रती च थोकिका।
राजा च दण्डं गरुकं पणेति, तस्मा नरो परदारं न सेवे॥ ३१०॥

अपुण्यलाभश्च गतिश्च पापिका, रतिश्च भीतां प्रति तस्य स्तोका।
राजा च दण्डं प्रददात्यनल्पं तस्मान्न सेवेत नरः परस्त्रीः॥ ३१०॥

३१०. इस पापकर्म के अन्य चार दोष ये भी हैं—१. अपुण्य लाभ, २. पापमय गति, ३. भयभीत पुरुष की भय से पीड़ित स्त्री से अल्पतम सुख की प्राप्ति एवं ४. इस अपराध के कारण राजदण्ड का भय। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह परायी स्त्री से कदापि सहवास न करे॥

५. किसी दुर्वचस् (मुँहफट) भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

कुसो यथा दुग्गहितो, हत्थमेवानुकन्तति।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं, निरयायुपकड्ढति॥ ३११॥

कुशो यथा दुर्गृहीतो, हस्तमेवानुकृन्तति।
श्रामण्यं दुष्परामृष्टं, निरयायोपकर्षति॥ ३११॥

३११. जिस प्रकार भली भाँति न पकड़ा हुआ कुश (तृणविशेष) हाथ को ही काट डालता है, उसी प्रकार अनभ्यस्त (दुष्परामृष्ट) श्रमणभाव (भिक्षुत्व) भी साधक को नरक की ओर ही खींच ले जाता है॥

यं किञ्चि सिथिलं कम्मं, सङ्किलिट्ठं च यं वतं।
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं, न तं होति महप्फलं॥ ३१२॥

यत् किञ्चित् शिथिलं कर्म, संक्लिष्टं चैव यद् व्रतम्।
सङ्कृच्छ्रं ब्रह्मचर्यं वै, न तदस्ति महाफलम्॥ ३१२॥

३१२. जो कार्य शिथिलता से किया जाता है, तथा जो व्रत क्लेशयुक्त है, एवं जो धर्मसाधना (ब्रह्मचर्य) अशुद्ध है—इन तीनों ही कर्मों का फल अधिक (अच्छा) नहीं मिल पाता॥

कयिरा च कयिराथेनं, दळ्हमेतं परक्कमे।
सिथिलो हि परिब्बाजो, भिय्यो आकिरते रजं॥ ३१३॥

कुर्याच्चेत् ननु कुर्वीत, दृढमेतत् पराक्रमेत्।
शिथिला हि परिव्रज्या, भूय आकिरते रजः॥ ३१३॥

३१३. यदि कोई कार्य करना है तो उसे सङ्कल्पपूर्वक करे तथा उसे दृढ़तापूर्वक सम्पन्न कर डाले। शिथिल परिव्राजक, अपनी शिथिलता के कारण, अपने श्रमणभाव पर धूल (कलङ्क) ही विखेरता है!॥

६. किसी ईर्ष्यालु स्त्री को : : श्रावस्ती, जेतवन में

अकतं दुक्कटं सेय्यो, पच्छा तप्पति दुक्कटं।
कतं च सुकतं सेय्यो, यं कत्वा नानुतप्पति॥ ३१४॥

अकृतं दुष्कृतं श्रेयः, पश्चात् तपति दुष्कृतम्।
कृतं च सुकृतं श्रेयो, यत्कृत्वा नानुतप्यते॥ ३१४॥

३१४. कोई दुष्कर्म न किया जाय तो अच्छा ही है; क्योंकि कृत दुष्कर्म के लिये बाद में पश्चात्ताप ही करना पड़ता है। अथ च, किया हुआ सत्कर्म ही उचित कहलाता है; क्योंकि उसके करने के बाद, किसी तरह का पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता॥

७. बहुत से भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

नगरं यथा पच्चन्तं, गुत्तं सन्तरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं, खणो वो मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचन्ति, निरयम्हि समप्पिता॥ ३१५॥

नगरं यथा प्रत्यन्तं, गुप्तमन्तश्च बाह्यतः।

आत्मानं गोपयेदेवं क्षणो मा वै उपातिगाः।
क्षणातीता हि शोचन्ति, निरयं ते समर्पिताः॥ ३१५॥

३१५. जिस प्रकार सीमान्त स्थित नगर की बाह्य एवं आभ्यन्तर रक्षा की जाती है, इसी प्रकार साधक को स्वकीय आत्मरक्षा करनी चाहिये। इसमें उसको क्षणमात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। उचित समय को उपयोग में न लेने वाले साधक दुष्कर्मों के चक्र में पड़ कर अन्त में नरकगामी ही होते हैं॥

८. निगण्ठों (जैन साधुओं) के विषय में : : श्रावस्ती, जेतवन में

अलज्जिताये लज्जन्ति, लज्जिताये न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥ ३१६॥

अलज्ये ये हि लज्जन्ते, लज्जन्ते च न लज्यके।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः, सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम्॥ ३१६॥

३१६. जो अलज्जायोग्य कर्मों से लज्जा करते हैं तथा लज्जायोग्य कार्यों से भय नहीं मानते, एवं मिथ्यादृष्टि धारण करने वाले ये प्राणी (अन्त में) दुर्गति ही प्राप्त करते हैं॥

अभये भयदस्सिनो, भये चाभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥ ३१७॥

अभये भयं पश्यन्ति, भये चाभयदर्शिनः।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः, सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम्॥ ३१७॥

३१७. जो भयरहित कार्यों में भय मानते हैं, तथा भयजनक कार्यों में भय नहीं देखते, ऐसे मिथ्यादृष्टि धारण करने वाले ये प्राणी (अन्त में) दुर्गति को ही प्राप्त होते हैं॥

९. अन्यती.थक श्रावकों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

अवज्जे वज्जमतिनो, वज्जे चावज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥ ३१८॥

अवर्ज्ये वर्ज्यमतयो, वर्ज्ये चावर्ज्यदर्शिनः।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः, सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम्॥ ३१८॥

३१८. जो निर्दोष कार्य में दोषबुद्धि रखते हैं तथा सदोष कार्यों को दोषरहित समझते हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टि धारण करने वाले ये प्राणी (अन्त में) दुर्गति को ही प्राप्त होते हैं॥

वज्जं च वज्जतो ञत्वा, अवज्जं च अवज्जतो।
सम्मादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं॥ ३१९॥

निरयवग्गो निट्ठितो॥

वर्ज्यं च वर्ज्यतो ज्ञात्वा, अवर्ज्यं वै अवर्ज्यतः।
सम्यग्दृष्टिसमादानाः, गच्छन्ति सुगतिं नराः॥ ३१९॥

३१९. परन्तु जो दोषयुक्त कार्य को दोषयुक्त तथा निर्दोष कार्य दोषरहित समझते हैं,

तथा उनके प्रति सम्यग्दृष्टि (उचित धारणा) बनाते हैं; वैसे प्राणियों की (अन्त में) सद्गति ही होती है॥

निरयवर्ग बाईसवाँ समाप्त॥

२३. नागवग्गो तेवीसतिमो

२३. नागवर्ग तेईसवाँ

१. आत्मसंयम के विषय में : : कौशाम्बी में

अहं नागो व सङ्गामे, चापतो पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं, दुस्सीलो हि बहुज्जनो॥ ३२०॥

संग्रामेऽहं यथा नागः चापवत् पतितं शरः।
अतिवाक्यं तितिक्षिष्ये, दुःशीला बहवो जनाः॥ ३२०॥

३२०. जैसे कोई गजराज युद्ध में धनुष् से छोड़े गये बाणों का प्रहार सहन करता है; उसी प्रकार मैं इन नागरिकों द्वारा कथित कटुवाक्यों को सहन करूँगा; क्योंकि यहाँ दुष्ट जन ही अधिक दिखायी दे रहे हैं॥

दन्तं नयन्ति समितिं, दन्तं राजाभिरूहति।
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु, योतिवाक्यं तितिक्खति॥ ३२१॥

दान्तं नयन्ति समितिं, दान्तं राजाभिरोहति।
दान्तः श्रेष्ठो मनुष्येषु, योऽतिवाक्यं तितिक्षति॥ ३२१॥

३२१. योद्धा लोग युद्ध में सुशिक्षित हाथी का ही उपयोग करते हैं; राजा लोग भी सुशिक्षित हाथी पर ही आरोहण (सवारी) करते हैं; इसी तरह मनुष्यों में भी आत्मनियन्त्रक ही श्रेष्ठ कहलाता है, जो दुष्ट पुरुषों द्वारा प्रयुक्त कटु वाक्य सुनने का अभ्यस्त हो॥

वरमस्सतरा दन्ता, आजानीया च सिन्धवा।
कुञ्जरा च महानागा, अत्तदन्तो ततो वरं॥ ३२२॥

वरमश्वतरा दान्ताः, आजानेयाश्च सैन्धवाः।
कुञ्जराश्च महानागाः, आत्मदान्तस्ततो वरम्॥ ३२२॥

३२२. सुशिक्षित खच्चर, सिन्धु देश के अश्व, तथा सुशिक्षित गज ही श्रेष्ठ कहलाते हैं; परन्तु इनसे भी श्रेष्ठ होता है आत्मसंयमी साधक पुरुष॥

२. हस्त्याचार्यपूर्वक भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न हि एतेहि यानेहि, गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथात्तना सुदन्तेन, दन्तो दन्तेन गच्छति॥ ३२३॥

न ह्येतैर्हि यानैर्ना, गच्छेत् क्वाप्यगतां दिशम्।
यथात्मना सुदान्तेन, दान्तो दान्तेन गच्छति॥ ३२३॥

३२३. इन लौकिक यानों से मनुष्य न जानी पहचानी हुई दिशा में (अगतपुब्ब) नहीं जा सकता। वहाँ तो आत्मसंयमी पुरुष ही भले प्रकार किये गये आत्मसंयम से (वहाँ तक) पहुँच सकता है॥

३. किसी अतिवृद्ध ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में (या?)

धनपालो नाम कुञ्जरो, कटुकभेदनो दुन्निवारयो।
बद्धो कबळं न भुञ्जति, सुमरति नागवनस्स कुञ्जरं॥ ३२४॥

धनपालः कुञ्जरोऽयं कटकभेदी दुर्निवारः।
बद्धः कबलं न भुंक्ते, स्मरति नागबलस्य कुञ्जरम्॥ ३२४॥

३२४. तीक्ष्ण मद वाला होने के कारण किसी के वश में न आने वाला यह धनपालक नाम का हाथी आज बन्धन में बँध जाने पर एक ग्रास भी भोजन नहीं खाता, अपितु केवल हाथियों से भरे अपने उस वन को ही स्मरण करता है॥

४. राजा प्रसेनजित् कौशल को : : श्रावस्ती के जेतवन में

मिद्धी यदा होति महग्घसो च, निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो व निवापपुट्ठो, पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो॥ ३२५॥

मृद्धो यथा स्याद्धि महाघसश्च, निद्रायितः सम्परिवर्तशायी।
निवापपुष्टो हि यथा वराहः, पुनः पुनर्गर्भमुपैति मन्दः॥ ३२५॥

३२५. जब मनुष्य आलसी बन जाता है, तथा अधिक खाने वाला हो जाता है, निद्रा (तन्द्रा) अभिभूत रहता है, करवटें बदलता रहता है, फिर भी उसको निद्रा नहीं आती; तब वह मूर्ख, घर में खाकर मोटे हुए पालित शूकर के समान, यहाँ बार बार जन्म लेता रहता है॥

५. सानु श्रामणेर को : : जेतवन श्रावस्ती में

इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं, येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं।
तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो, हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो॥ ३२६॥

पुराऽचरच्चित्तमिदं यतस्ततः, यथेप्सितं यत्रकामं यथासुखम्।
तदद्याहं योनिशो निग्रहीष्यामि गजं निगृह्णाति यथाङ्कुशेन॥ ३२६॥

३२६. यह मेरा चित्त पहले स्वेच्छया अपनी कामनाओं तथा सुखों के अनुसार

विचरण करता रहा। परन्तु मैं आज उसी तरह अपने इस चित्त को यथार्थतः निगृहीत करूँगा जैसे अंकुश ग्रहण करने वाला हस्तिशिक्षक उन्मत्त हाथी को पकड़ लेता है॥

६. पावेयक हाथी के विषय में : : श्रावस्ती के जेतवन में

अप्पमादरता होथ, सचित्तमनुरक्खथ।
दुग्गा उद्धरथत्तानं, पङ्के सन्नो व कुञ्जरो॥ ३२७॥

अप्रमादेन संयुक्ताः, स्वचित्तमनुरक्षथ।
दुर्गादुद्धरतात्मानं, पङ्के सक्तो यथा गजः॥ ३२७॥

३२७. तुम अप्रमादयुक्त (सावधान) बनो। स्वचित्त की रक्षा करो। जैसे कर्दम (कीचड़=दलदल) में फँसा हुआ हाथी उससे अपना उद्धार कर ले गया, उसी प्रकार तुम भी क्लेशों की कठिनाइयों से अपने को निकालो॥

७. बहुत से भिक्षुओं को : : पारिलेयक वन में

सचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा॥ ३२८॥

कश्चिल्लभेत चतुरं सहायं, सहचारिणं साधुविहारिधीरम्।
अभिभूय सर्वांश्च परिश्रयान्वै, चरेद्धि तेनात्तमनाः स धीमान्॥ ३२८॥

३२८. यदि साधक को परिपक्व बुद्धि वाला सहायक मिल जाय जो साधना में साथ साथ रहे, साधुता से आचरण करे, धैर्यवान् हो, सभी बाह्य एवं आभ्यन्तर परिश्रयों (सङ्कटों) को हटा कर सचेत एवं सावधान होकर उस के साथ प्रसन्न मन से साथ साथ विचरण करे॥

नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजा व रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातङ्गरञ्ञे व नागो॥ ३२९॥

न चेल्लभेत चतुरं सहायं सार्धञ्चरं साधुविहारिधीरम्।
राजेव राष्ट्रं विजितं प्रहाय, एकश्चरेद्धस्तिपतिर्यथा वने॥ ३२९॥

३२९. परन्तु साधक को उपर्युक्त गुणसम्पन्न सहायक न मिले तो भी वह जैसे कोई राजा अपने हारे हुए राष्ट्र को छोड़ कर चला जाता है, या कोई हाथी जैसे नागवन में एकाकी विचरण करता है, वैसे ही, एकाकी ही विचरण (साधना) करे॥

एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा, अप्पोस्सुक्को मातङ्गरञ्ञे व नागो॥ ३३०॥

एकस्य चरितं श्रेयो, नास्ति बाले सहायता।
एकश्चरेन्न च पापानि कुर्याद्, गजो यथा वै विचरत्यरण्ये॥ ३३०॥

३३०. साधक का एकाकी रह कर साधना करना ही श्रेयस्कर (उत्तम) है। साधना में किसी मूर्ख की सहायता लेना श्रेयस्कर नहीं होता। साधक को तो एकाकी ही विचरण करना चाहिये तथा पापकर्मों से दूर रहना चाहिये। जैसे कोई हाथी नागवन में एकाकी विचरण करता

है उसी प्रकार साधक को पापकर्मों से दूर रहते हुए तथा सांसारिक कर्मों में कम ही आसक्ति रखते हुए साधनारत रहना चाहिये॥

८. पापी मार के प्रति : : हिमालय की किसी अरण्यकुटी में

अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया, तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसङ्खयम्हि, सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहानं॥ ३३१॥

सुखाः सहायाः खलु अर्थजाते, तुष्टिः सुखा या इतरेतरेण।
पुण्यं सुखं जीवितसंक्षये वै, सर्वस्य दुःखस्य सुखं प्रहाणम्॥ ३३१॥

३३१. अवसर पड़ने पर जो साथ दे वही सुखदायी सहायक है। परस्परसापेक्ष जिस पदार्थ की प्राप्ति से जो सन्तोष हो वही सुखकर है। जीवन का क्षय होते समय पूर्वकृत पुण्य ही सुखदायी होते हैं, तथा सर्वदुःखप्रहाण (निर्वाण) ही सर्वोत्तम सुख है॥

सुखा मत्तेय्यता लोके, अथो पेत्तेय्यता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके, अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा॥ ३३२॥

मातृसेवा सुखा लोके, पितृसेवा तथा सुखा।
सुखा श्रमणता लोके, ब्राह्मण्यं च तथा सुखम्॥ ३३२॥

३३२. संसार में माता बनना सुखकारी है, पिता बनना भी सुखकारी है। समानता (प्रव्रजित का सब प्राणियों में समान भाव रखना) सुखदायी है। तथा ब्राह्मण्य (**सुत्तनिपात** में निर्दिष्ट ब्राह्मण-धर्मों का पालन) भी सुखदायी होता है॥

सुखं याव जरा सीलं, सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो, पापानं अकरणं सुखं॥ ३३३॥

नागवग्गो निट्ठितो॥

सुखं यावज्जरं शीलं, सुखा श्रद्धा प्रतिष्ठिता।
प्रज्ञालाभः सुखः प्रोक्तः, पापस्याकरणं सुखम्॥ ३३३॥

३३३. वृद्धावस्थापर्यन्त शील (सदाचार) का पालन, अपने में प्रतिष्ठित श्रद्धा एवं प्रज्ञा का लाभ, तथा पाप का न करना सर्वदा सुखकारी होता है॥

नागवर्ग तेईसवाँ सम्पन्न॥

✿

२४. तण्हावग्गो चतुवीसतिमो

२४. तृष्णावर्ग चौबीसवाँ

१. कपिलमत्स्य को : : श्रावस्ती, जेतवन में

मनुजस्स पमत्तचारिनो, तण्हा वड्ढति मालुवा विय।
सो प्लवती हुरा हुरं, फलमिच्छं व वनस्मि वानरो॥ ३३४॥

मनुजस्य प्रमत्तचारिणस्तृष्णा वर्धते मालुवा लता इव।
स प्लवते इहापरत्र च, फलमिच्छन् हि यथा वने कपिः॥ ३३४॥

३३४. प्रमत्त होकर आचरण करने वाले पुरुष की तृष्णा, मालुवा लता के समान, बढ़ती ही रहती है। ऐसा पुरुष, वन में फल की इच्छा रखने वाले वानर के समान, दिनों दिन इधर उधर भटकता ही रहता है॥

यं एसा सहते जम्मी, तण्हा लोके विसत्तिका।
सोका तस्स पवड्ढन्ति, अभिवट्ठं व बीरणं॥ ३३५॥

यमेषा जन्मिनी सहते तृष्णा लोके विषात्मिका।
शोकास्तस्य प्रवर्धन्तेऽभिवृद्धमिव वीरणम्॥ ३३५॥

३३५. यह संसार में निरन्तर जन्म लेने की तृष्णा जिस पुरुष को आवृत कर लेती है, उसके सांसारिक दुःख उसी प्रकार बढ़ते रहते हैं जैसे जङ्गल में वीरण घास बढ़ती रहती है॥

यो चेतं सहते जम्मिं, तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तम्हा पपतन्ति, उदबिन्दू व पोक्खरा॥ ३३६॥

यश्चैनां सहते जन्मिनीं तृष्णां लोके दुरत्ययाम्।
शोकास्तस्य प्रपतन्ति, उदबिन्दुरिव पुष्करात्॥ ३३६॥

३३६. जो संयमी पुरुष इस निरन्तर जन्मते रहने वाली दुस्त्यज तृष्णा को परास्त कर देता है, उसके सांसारिक दुःख उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे कमलपत्र से जलबिन्दु नीचे गिर कर नष्ट हो जाता है॥

तं वो वदामि भद्दं वो, यावन्तेत्थ समागता।
तण्हाय मूलं खणथ, उसीरत्थो व बीरणं।
मा वो नळं व सोतो व, मारो भञ्जि पुनप्पुनं॥ ३३७॥

तद् वो वदामि भद्रं वो यावन्त इह आगताः।
मूलं खनत तृष्णायाः, उशीरार्थीव वीरणम्।
मा वो नडवत् स्रोतो मारो भाङ्क्षीः पुनः पुनः॥ ३३७॥

३३७. अतः मैं आप लोगों से, जो भी इस धर्मपरिषद् में उपस्थित हैं, सभी से यह कहता हूँ कि आप लोगों का कल्याण हो। तुम लोग अपनी इस तृष्णा की जड़ उसी तरह खोद

डालो, जिस प्रकार खस को चाहने वाला वीरण घास को खोद डालता है। तृष्णा के वशीभूत तुम सबको यह मार उसी तरह नष्ट न कर दे, जैसे जल का प्रवाह मृणाल को बार बार नष्ट कर दिया करता है॥

२. गूथशूकरपुत्री को : : राजगृह, वेणुवन में

यथा पि मूले अनुपद्दवे दळ्हे, छिन्नो पि रुक्खो पुनरेव रूहति।
एवं पि तण्हानुसये अनूहते, निब्बत्तती दुक्खमिदं पुनप्पुनं॥ ३३८॥

यथापि मूले ह्यनुपद्रवे दृढे, छिन्नोऽपि वृक्षः पुनरेव रोहति।
एवं हि तृष्णानुशये अनूहते, निर्वर्तते दुःखमिदं पुनः पुनः॥ ३३८॥

३३८. जैसे मूल (जड़) के दृढ़ तथा स्थिर होने से कटा हुआ वृक्ष भी पुनः वृद्धिङ्गत हो जाता है, उसी प्रकार तृष्णा के संस्कारों के नष्ट न होने से ये सांसारिक दुःख बार बार आते रहते हैं॥

यस्स छत्तिंसति सोता, मनापसवना भुसा।
बाहा वहन्ति दुद्दिट्ठिं, सङ्कप्पा रागनिस्सिता॥ ३३९॥

यस्य स्रोतांसि षट्त्रिंशत्, मनः प्रस्रवणानि स्युः।
वाहा वहन्ति दुर्दृष्टिं, सङ्कल्पा रागनिःसृताः॥ ३३९॥

३३९. जिसकी तृष्णा के ३६ स्रोत प्रिय (मनाप) वस्तुओं की तरफ बहते रहते हैं, राग से निःसृत सङ्कल्प उस मिथ्यादृष्टि मनुष्य को जलप्रवाह के समान बहा ले जाते हैं॥

सवन्ति सब्बधि सोता, लता उब्भिज्ज तिट्ठति।
तं च दिस्वा लतं जातं, मूलं पञ्ञाय छिन्दथ॥ ३४०॥

स्रवन्ति सर्वस्रोतांसि, लता उद्भिद्य तिष्ठति।
तां च दृष्ट्वा लतां जातां मूलं छिन्दत प्रज्ञया॥ ३४०॥

३४०. तृष्णा के स्रोत सब तरफ बहते रहते हैं, जैसे लता उत्पन्न होकर स्थिर हो जाती है। उस उत्पन्न लता को देख कर प्रज्ञा के साधन (उपाय) से उसकी जड़ को छिन्न भिन्न कर डालें॥

सरितानि सिनेहितानि च, सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो।
ते सातसिता सुखेसिनो, ते वे जातिजरूपगा नरा॥ ३४१॥

स्रोतांसि स्निग्धानि च प्राणिनां स्युरथापि सौजन्ययुतानि तानि।
स्रोतःसृतास्ते च सुखैषिणः स्युस्तथैव ते जातिजरोपगा नराः॥ ३४१॥

३४१. तृष्णा की नदियाँ इतनी स्निग्ध होती हैं कि वे प्राणियों के चित्त को अनायास ही अपने वश में कर लेती हैं। जो मनुष्य सुख की खोज में निकल कर इन नदियों के प्रवाह में पड़े रहते हैं वे जन्मजराचक्र से कभी नहीं निकल सकते॥

तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो व बन्धितो।

संयोजनसङ्गसत्तका, दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय॥ ३४२॥

तृष्णापुरस्कृता लोकाः भ्रमन्ति शशबद्धवत्।
संयोजनासक्तचित्ताः दुःखं यान्ति पुनश्चिरम्॥ ३४२॥

३४२. तृष्णा के पीछे दौड़ने वाले प्राणी, बन्धे हुए खरगोश के समान एक निश्चित स्थान पर ही चक्कर काटते रहते हैं। ऐसे बन्धनों में फँसे हुए लोग चिरकाल तक पुनः पुनः दुःखभोग के लिये ही अग्रसर होते रहते हैं॥

तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो व बन्धितो।
तस्मा तसिणं विनोदये, आकङ्खन्त विरागमत्तनो॥ ३४३॥

तृष्णापुरस्कृता लोकाः सर्पन्ति शशबद्धवत्।
तृष्णां विनोदयेत्तस्मात् वैराग्यस्याभिलाषुकः॥ ३४३॥

३४३. इस तृष्णा के पीछे चलने वाले प्राणी, बन्धे हुए खरगोशों की तरह उसके आस पास ही चक्कर लगाते रहते हैं। अतः अपने लिये वैराग्य की आकांक्षा करने वाले साधक को इस तृष्णा को स्वचित्त से दूर करना चाहिये॥

३. एक विभ्रान्त (परित्यक्तशासन) भिक्षु को : : राजगृह के वेणुवन में

यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो, वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेथ पस्सथ, मुत्तो बन्धनमेव धावति॥ ३४४॥

यो निर्वनतो वनाधिमुक्तो वनमुक्तो वनमेव धावति।
तं पुद्गलमेव पश्यत, मुक्तो बन्धनमेव धावति॥ ३४४॥

३४४. जो तृष्णा (वन) के बन्धन से छूट जाता है, तथा इस तृष्णा के वन से छूट कर पुनः उसी वन की ओर दौड़ता है। उस मनुष्य को देखो जो मुक्त होकर भी पुनः बन्धन की ओर दौड़ लगा रहा है॥

४. बन्धनागार को लक्ष्य कर : : श्रावस्ती, जेतवन में

न तं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा, यदायसं दारुजं बब्बजं च।
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु, पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा॥ ३४५॥

धीरा न तं दृढं बन्धनमाहुः, यदायसं दारुजबब्बजं च।
सारक्तरक्ता मणिकुण्डलेषु पुत्रेषु दारेषु च या अपेक्षा॥ ३४५॥

३४५. धैर्यवान् पुरुष उसको दृढ़ बन्धन नहीं कहते जो लौहनिर्मित या काष्ठनिर्मित हो, या मुञ्ज (रस्सी से) निर्मित हो। वस्तुतः धन, रत्न, मणि, कुण्डल (आभूषण), पुत्र तथा स्त्री में आसक्ति होना ही दृढतम बन्धन है॥

एतं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा, ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं।
एतं पि छेत्वान परिब्बजन्ति, अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय॥ ३४६॥

धीरा दृढं बन्धनमाहुरेतद्, अवहारि यच्छिथिलं दुष्प्रमोचम्।

एतत्तु छित्त्वा नु परिव्रजन्ति, अनपेक्षिणः कामसुखं प्रहाय॥ ३४६॥

३४६. वे धैर्यवान् पण्डित जन उसे ही दृढ़ बन्धन कहते हैं जो नीचे (अधोगति) की ओर ले जाने वाला है, जो देखने में शिथिल है, परन्तु कठिनता से टूट पाता है। संसार में निःस्पृह जन इसे भी तोड़ कर तथा कामसुखों से विरक्त होकर अन्त में संसार से मुँह मोड़ कर प्रव्रज्या ले लेते हैं॥

५. क्षेमा स्थविरा को : : श्रावस्ती, जेतवन में

ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं, सयङ्कतं मक्कटको व जालं।
एतं पि छेत्वान वजन्ति धीरा, अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय॥ ३४७॥

ये रागरक्ता हि पतन्ति स्रोतः, स्वयंकृते मर्कटको हि जाले।
एतत्तु छित्त्वा नु व्रजन्ति धीराः, अनपेक्षिणः सर्वदुःखं प्रहाय॥ ३४७॥

३४७. जो पुरुष राग में अनुरक्त हैं, वे तृष्णा के स्रोत में उसी तरह जा पड़ते हैं जैसे मकड़ी स्वयं के बनाये जाल में फँस जाया करती है। हाँ, निःस्पृह (विरक्त) एवं धैर्यवान् साधक इस तृष्णाजाल को भी काट कर तथा सभी दुःखों का परित्याग कर संसार से उदासीन हो जाते हैं॥

६. उग्रसेन नटपुत्र को : : राजगृह के वेणुवन में

मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो, मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो, न पुनं जातिजरं उपेहिसि॥ ३४८॥

मुञ्च पुरा मुञ्च पश्चात्, मध्ये मुञ्च भवस्य पारग!
सर्वत्र विमुक्तमानसो, न पुनर्जातिजरामुपैष्यसि॥ ३४८॥

३४८. भूत, भविष्य, वर्तमान के बन्धन त्याग दो। तथा इस भवसागर के पार चले जाओ। जब तुम्हारा मन सब ओर से मुक्त हो जायगा तब तुम्हें ये जन्म जरा आदि धर्म पीड़ित नहीं करेंगे॥

७. चूड़धनुर्ग्रह पण्डित को : : श्रावस्ती के जेतवन में

वितक्कमथितस्स जन्तुनो, तिब्बरागस्स सुभानुपस्सिनो।
भिय्यो तण्हा पवड्ढति, एस खो दळ्हं करोति बन्धनं॥ ३४९॥

वितर्कमथितस्य प्राणिनस्तीव्ररागस्य शुभानुदर्शिनः।
भूयस्तृष्णा प्रवर्धते, एषा खलु दृढं करोति बन्धनम्॥ ३४९॥

३४९. जो प्राणी सन्देहजाल (तर्कवितर्क) में फँसा हुआ है, जो तीव्र राग में आसक्त है, जो सांसारिक वस्तुओं में शुभ भावना का द्रष्टा है, उसकी तृष्णा पहले की अपेक्षा से बढ़ती ही जाती है। इससे वह अपने सांसारिक बन्धनों को पहले से भी अधिक दृढ़ बनाता है॥

वितक्कूपसमे च यो रतो, असुभं भावयते सदा सतो।
एस खो ब्यन्ति काहिति, एस छेच्छति मारबन्धनं॥ ३५०॥

वितर्कोपशमे रतो, ह्यशुभं भावयते सदा।
एष खलु व्यन्तीकरिष्यति, एष छेत्स्यति मारबन्धनम्॥ ३५०॥

३५०. (इसके विपरीत—) जो प्राणी अपने सन्देहों को (साधना द्वारा) शान्त करता रहता है, जो सांसारिक वस्तुओं को अशुभ समझता है, वह एक न एक दिन मारबन्धनों को काट ही देगा तथा उनका अन्त (नाश) कर देगा॥

८. पापी मार को : : श्रावस्ती के जेतवन में

निट्ठङ्गतो असन्तासी, वीततण्हो अनङ्गणो।
अच्छिन्दि भवसल्लानि, अन्तिमोयं समुस्सयो॥ ३५१॥

निष्ठां गतो ह्यसन्त्रासो, वीततृष्णो ह्यनङ्गणः।
अच्छिनद् भवशल्यानि, अन्तिमोऽयं समुच्छ्रयः॥ ३५१॥

३५१. जो निष्ठा (अर्हत्त्व) को प्राप्त कर चुका है, जो निर्भय है, जो वीततृष्ण तथा निर्दोष है, उसने अपने सभी बन्धन छिन्न भिन्न कर डाले हैं तथा इस संसार में उसका यह अन्तिम जन्म है॥

वीततण्हो अनादानो, निरुत्तिपदकोविदो।
अक्खरानं सन्निपातं, जञ्ञा पुब्बापरानि च।
स वे अन्तिमसारीरो, महापञ्ञो ति वुच्चति॥ ३५२॥

वीततृष्णो ह्यनादानो, निरुक्तिपदकोविदः।
अक्षराणां सन्निपातं वेत्ति पूर्वापराणि च।
स वै अन्तिमशारीरो, महाप्राज्ञः स उच्यते॥ ३५२॥

३५२. जो तृष्णारहित हो चुका है, जो अपरिग्रहयुक्त है, जो पदों के निर्वचन में दक्ष है, जो अक्षरों के आदि अन्त को भली प्रकार से पहचानता है, ऐसे महाप्राज्ञ ने निश्चय ही अब इस संसार में यह अन्तिम जन्म लिया है॥

९. उपक आजीवक को : : वाराणसी जाते समय मार्ग में

सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि, सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो, सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं॥ ३५३॥

सर्वाभिभूः सर्वविद्याहमस्मि, सर्वेषु धर्मेषु अनूपलिप्तः।
सर्वञ्जहस्तृष्णाक्षये विमुक्तः, स्वयं ह्यभिज्ञाय कमुद्दिशेयम्!॥ ३५३॥

३५३. "मैं सबको परास्त कर चुका हूँ। मैं सब कुछ जानने वाला हूँ। मैं सभी (सांसारिक) धर्मों से अनुपलिप्त हूँ। मैं सब कुछ त्याग चुका हूँ। मेरी सर्वविध तृष्णा क्षीण हो जाने से मैं 'विमुक्त' हो चुका हूँ"—ऐसा जान लेने के बाद, मैं किसको अपना गुरु बताऊँ॥

१०. देवराज शक्र को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सब्बदानं धम्मदानं जिनाति, सब्बंरसं धम्मरसो जिनाति।

सब्बरतिं धम्मरति जिनाति, तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति॥ ३५४॥

धर्मदानं सर्वदानं जयति, धर्मरसो सर्वरसं जयति।
धर्मरतिः सर्वरतिं जयति, तृष्णाक्षयः सर्वदुःखं जयति॥ ३५४॥

३५४. धर्म का दान अन्य सभी दानों को जीत लेता है। इसी तरह, धर्मरूप अमृतपान का रस सब रसों को जीत लेता है। धर्म के प्रति अनुराग (रति=प्रेम) भी अन्य रागों को जीत लेता है। तथा तृष्णा का विनाश सब दुःखों को जीत लेता है॥

११. अपुत्रक श्रेष्ठी को : : श्रावस्ती, जेतवन में

हनन्ति भोगा दुम्मेधं, नो च पारगवेसिनो।
भोगतण्हाय दुम्मेधो, हन्ति अञ्ञेव अत्तनं॥ ३५५॥

भोगाः दुर्मेधसं घ्नन्ति, न चेत् पारगवेषिणः।
हन्त्यन्यमिव चात्मानं, दुर्मेधा भोगतृष्णया॥ ३५५॥

३५५. यदि कोई मनुष्य संसार से पार जाने की इच्छा नहीं करता तो उस दुर्बुद्धि पुरुष को सांसारिक विषयभोग ही नष्ट कर देते हैं। इन भोगों की तृष्णा के कारण उसे दूसरों की हत्या तो करनी ही है, साथ ही वह अपनी भी हत्या कर बैठता है॥

१२. अङ्कुर देवपुत्र को : : पाण्डुकम्बलशिला पर

तिणदोसानि खेत्तानि, रागदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतरागेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥ ३५६॥

क्षेत्राणि तृणदोषाणि, रागदोषा इयं प्रजा।
तस्माद्धि वीतरागेषु, दत्तमस्ति महाफलम्॥ ३५६॥

३५६. खेतों में व्यर्थ घासपात पैदा होना—खेत का दोष कहलाता है। किसी के प्रति राग (आसक्ति) होना—यह प्रजा का दोष कहलाता है। अतः वीतरागों को दिया हुआ दान ही अधिक फलदायी होता है॥

तिणदोसानि खेत्तानि, दोसदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतदोसेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥ ३५७॥

क्षेत्राणि तृणदोषाणि, द्वेषदोषा इयं प्रजा।
वीतद्वेषेषु तस्माद्धि, दत्तमस्ति महाफलम्॥ ३५७॥

३५७. खेतों में व्यर्थ घासपात...पूर्ववत्...अतः वीतद्वेष पुरुषों को दिया हुआ दान ही अधिक फलदायी होता है॥

तिणदोसानि खेत्तानि, मोहदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतमोहेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥ ३५८॥

क्षेत्राणि तृणदोषाणि, मोहदोषा इयं प्रजा।
तस्माद्धि वीतमोहेषु, दत्तमस्ति महाफलम्॥ ३५८॥

३५८. खेतों में व्यर्थ घासपात...पूर्ववत्...अतः वीतमोह पुरुषों को दिया हुआ दान ही अधिक फलदायी होता है॥

तिणदोसानि खेत्तानि, इच्छादोसा अयं पजा।
तस्मा हि विगतिच्छेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥ ३५९॥
तिणदोसानि खेत्तानि, तण्हादोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीततण्हेसु, दिन्नं होति महप्फलं[१]॥

तण्हावग्गो निट्ठितो॥

क्षेत्राणि तृणदोषाणि, इच्छादोषा इयं प्रजा।
विगतेच्छुषु तस्माद्धि, दत्तमस्ति महाफलम्॥ ३५९॥
क्षेत्राणि तृणदोषाणि, तृष्णादोषा इयं प्रजा।
तस्माद्धि वीतमोहेषु, दत्तमस्ति महाफलम्॥

३५९. खेतों में व्यर्थ घासपात...पूर्ववत्...। अतः इच्छा (तृष्णा) रहित पुरुष को दिया हुआ दान ही अधिक फलदायी होता है॥

तृष्णावर्ग चौबीसवाँ सम्पन्न॥

२५. भिक्खुवग्गो पञ्चवीसतिमो

२५. भिक्षुवर्ग पचीसवाँ

१. पञ्चेन्द्रियोपासक पाँच भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।
घानेन संवरो साधु, साधु जिव्हाय संवरो॥ ३६०॥

चक्षुषा संवरः साधुः, साधुः श्रोत्रेण संवरः।
घ्राणेन संवरः साधुः, जिह्वया साधुसंवरः॥ ३६०॥

३६०. चक्षुरिन्द्रिय का संयम साधक के लिये हितकर है। इसी प्रकार, श्रोत्रेन्द्रिय पर, घ्राणेन्द्रिय पर तथा जिह्वेन्द्रिय पर संयम भी साधक के लिये हितकर ही होता है॥

कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।

१. यह गाथा **धम्मपदट्ठकथा** में व्याख्यात नहीं है।—अनु०

मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु, सब्बदुक्खा पमुच्चति॥ ३६१॥
कायेन संवरः साधुः, साधुर्वाचा हि संवरः।
मनसा संवरः साधुः, साधुः सर्वत्र संवरः॥
सर्वत्र संवृतो भिक्षुः, सर्वदुःखात् प्रमुच्यते॥ ३६१॥

३६१. समस्त शरीर पर संयम तो पूर्वोक्त इन्द्रियों के संयम की अपेक्षा साधक के लिये अधिक हितकर है। निष्कर्ष यह है कि सभी इन्द्रियों पर संयम रखने वाला भिक्षु ही सर्वविध दुःखों से छुटकारा (मुक्ति) पा सकता है॥

२. किसी हंसघातक भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

हत्थसंयतो पादसंयतो, वाचासंयतो संयतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं॥ ३६२॥
संयतो हस्तपादाभ्यामथ वाचा हि चोत्तमः।
समाहितोऽध्यात्मरतः, सन्तुष्टो भिक्षुरुच्यते॥ ३६२॥

३६२. बुद्धिमान् लोग उसी को वास्तविक भिक्षु कहते हैं जो अपने हाथों एवं पैरों पर संयम रखता है। जो अपनी वाणी पर संयम रखता है वह तो सर्वश्रेष्ठ संयमी है। तथा जो सतत समाधिनिष्ठ रहता है एवं एकाकी विचरण करता है, सन्तोषवृत्ति से जीवनयापन करता है वही वस्तुतः भिक्षु है॥

३. कोकालिक भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यो मुखसंयतो भिक्खु, मन्तभाणी अनुद्धतो।
अत्थं धम्मं च दीपेति, मधुरं तस्स भासितं॥ ३६३॥
मुखेन संयतो भिक्षुर्मन्त्रभाणी ह्यनुद्धतः।
दीपयत्यर्थधर्मौ च, मधुरं तस्य भाषितम्॥ ३६३॥

३६३. जो भिक्षु मुख (वाणी) से संयत है, मितभाषी एवं विनयशील है, वही बुद्धिमान् भिक्षु धर्म एवं अर्थ का भले प्रकार से विवेचन (व्याख्यान) कर सकता है; उसका भाषण (बोलना) मधुर भी होता है एवं कर्णप्रिय भी॥

४. धर्माराम भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

धम्मारामो धम्मरतो, धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु, सद्धम्मा न परिहायति॥ ३६४॥
धर्मारामो धर्मरतो, धर्मं चानुविचिन्तयन्।
धर्मं ह्यनुस्मरन् भिक्षुः, धर्मान्न परिहीयते॥ ३६४॥

३६४. जो भिक्षु निरन्तर धर्माचरण में ही लगा रहता है, धर्मचिन्तन में ही रत रहता है,

धर्म का मनन करता रहता है, धर्म का अनुस्मरण एवं अनुगमन करता रहता है, ऐसा साधक भिक्षुधर्म से कभी च्युत नहीं होता॥

५. किसी विपक्षी भिक्षु को : : राजगृह के वेणुवन में

सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहयं चरे।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खु, समाधिं नाधिगच्छति॥ ३६५॥

स्वलाभं नाति मन्येत, नान्येभ्यः स्पृहयँश्चरेत्।
अन्येभ्यः स्पृहयन् भिक्षुः, समाधिं नाधिगच्छति॥ ३६५॥

३६५. भिक्षु स्वलाभ की अवहेलना न करे। वह दूसरों से ईर्ष्या करता हुआ अपना जीवन न बिताये; क्योंकि दूसरों से ईर्ष्या (स्पृहा) करने वाला समाधि (ध्यान आदि धर्मों) को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता॥

अप्पलाभो पि चे भिक्खु, सलाभं नातिमञ्ञति।
तं वे देवा पसंसन्ति, सुद्धाजीविं अतन्दितं॥ ३६६॥

अल्पलाभोऽपि चेद् भिक्षुः, स्वलाभं नाति मन्यते।
तं वै देवाः प्रशंसन्ति, शुद्धाजीवमतन्द्रितम्॥ ३६६॥

३६६. भले ही वह स्वलाभ अल्प ही क्यों न हो, भिक्षु को उसकी अवमानना (तिरस्कार) नहीं करनी चाहिये। जो भिक्षु स्वलाभ की अवमानना नहीं करता, ऐसे शुद्ध आजीविका वाले भिक्षु की देवता भी प्रशंसा करते हैं॥

६. पञ्च अग्रदायक ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

सब्बसो नामरूपस्मिं, यस्स नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति, स वे भिक्खू ति वुच्चति॥ ३६७॥

सर्वशो नामरूपे वै, यस्य नास्ति ममायितम्।
योऽसति च न शोचति, भिक्षुः स खलु कथ्यते॥ ३६७॥

३६७. नामरूप वाले इस समस्त संसार में जिसकी अल्पमात्र भी ममता नहीं होती, या जो वस्तु के न रहने पर (या न मिलने पर) किसी प्रकार का शोक नहीं करता, वही 'भिक्षु' कहलाता है॥

७. बहुत से भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

मेत्ताविहारी यो भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं, सङ्खारूपसमं सुखं॥ ३६८॥

मैत्रीविहारी यो भिक्षुः, प्रसन्नो बुद्धशासने।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम्॥ ३६८॥

३६८. जो भिक्षु मैत्रीभाव से जीवनयापन करता है, जो बुद्धशासन में श्रद्धालु है, वह संस्कारों को शमन करने वाले शान्त एवं सुखद पद (निर्वाण) को प्राप्त कर लेता है॥

सिञ्च भिक्खु इमं नावं, सित्ता ते लहुमेस्सति।
छेत्वा रागं च दोसं च, ततो निब्बानमेहिसि॥ ३६९॥
सिञ्च भिक्षो! इमां नावं, सिक्ता लाघवमेष्यति।
छित्त्वा रागं च द्वेषं च, ततो निर्वाणमेष्यसि॥ ३६९॥

३६९. हे भिक्षु! इस नौका में भरे जल को उडेल (उलट कर गिरा) दे। जल के उडेलने पर यह नौका तेरे लिये हल्की (लघुभार वाली) हो जायगी। तब तूँ सांसारिक राग एवं द्वेष को काट कर निर्वाण तक पहुँच सकेगा॥

पञ्च छिन्दे पञ्च जहे, पञ्च चुत्तरि भावये।
पञ्च सङ्गातिगो भिक्खु, ओघतिण्णो ति वुच्चति॥ ३७०॥
पञ्च छिन्द्यात् पञ्च जह्यात्, भावयेत् पञ्च चोत्तरम्।
पञ्चसङ्गातिगो भिक्षुः, औघतीर्णो हि कथ्यते॥ ३७०॥

३७०. पाँच (अधोभागीय संयोजनों) को काट दे, पाँच (ऊर्ध्वभागीय संयोजनों) को त्याग दे, पाँच (श्रद्धा, स्मृति, वीर्य, समाधि एवं प्रज्ञा) की भावना कर। पाँच (रूप आदि स्कन्धों) का सङ्ग छोड़ कर आगे बढ़ जाने वाला भिक्षु संसार की बाढ (औघ) को पार करने वाला (औघतीर्ण) कहलाता है॥

झाय भिक्खु मा पमदो, मा ते कामगुणे रमस्सु चित्तं।
मा लोहगुळं गिली पमत्तो, मा कन्दि दुक्खमिदं ति डय्हमानो॥ ३७१॥
ध्याय भिक्षो मा प्रमद, मा ते कामगुणे भ्रमतु चित्तम्।
मा लोहगुडं गिल प्रमत्तः, मा क्रन्दीः दुःखमिति दह्यमानः॥ ३७१॥

३७१. हे भिक्षु! ध्यानभावना का अभ्यास कर। इसमें प्रमाद न करना। तेरा चित्त भोगों के चक्र में न पड़ने पावे। प्रमत्त होकर तूँ लोहे का गोलक न निगल। संसार की अग्नि में जलते हुए 'यह दुःख है'—कह कर क्रन्दन (चिल्लाहट) न कर॥

नत्थि झानं अपञ्ञस्स, पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानं च पञ्ञा च, स वे निब्बानसन्तिके॥ ३७२॥
प्रज्ञाहीनस्य न ध्यानं, प्रज्ञा नास्त्यध्यायतः।
यस्य ध्यानं च प्रज्ञा च, निर्वाणस्य स सन्तिके॥ ३७२॥

३७२. जो साधक प्रज्ञारहित है, उसकी ध्यानभावना कैसे सिद्ध होगी! ध्यान के विना प्रज्ञा का होना भी असम्भव है। अतः जिस साधक के पास ये दोनों—ध्यान एवं प्रज्ञा है, वही निर्वाण के समीप है॥

सुञ्ञागारं पविट्ठस्स, सन्तचित्तस्स भिक्खुनो।
अमानुसी रति होति, सम्मा धम्मं विपस्सतो॥ ३७३॥
शून्यागारं प्रविष्टस्य, शान्तचिन्तस्य योगिनः।

अमानुषी रतिर्भवति, धर्मं सम्यग् विपश्यतः॥ ३७३॥

३७३. जो साधक (भिक्षु) शून्य आगार (निर्जन स्थान) में रहता है, जिसका चित्त शान्त है, जिसने धर्म का सम्यक् साक्षात्कार कर लिया है उसे लोकोत्तर (दिव्य) आनन्द प्राप्त होने लगता है॥

यतो यतो सम्मसति, खन्धानं उदयब्बयं।
लभती पीतिपामोज्जं, अमतं तं विजानतं॥ ३७४॥

यतो यतः सम्मृशति, स्कन्धानामुदयव्ययम्।
लभते प्रीतिप्रामोद्यममृतं तद् विजानताम्॥ ३७४॥

३७४. साधक मनुष्य जैसे जैसे इस शरीर के तत्त्वों की उत्पत्ति एवं विनाश का चिन्तन करता है, वैसे वैसे वह ज्ञानियों के प्रेम (प्रीति) और प्रमाद (हर्ष) का अमृतमय आनन्द प्राप्त करने लगता है॥

तत्रायमादि भवति, इध पञ्ञस्स भिक्खुनो।
इन्द्रियगुत्ति सन्तुट्ठि, पातिमोक्खे च संवरो॥ ३७५॥

तत्रायमादिर्भवति, इह प्राज्ञस्य योगिनः।
इन्द्रियगुप्तिः सन्तुष्टिः, प्रातिमोक्षे च संवरः॥ ३७५॥

३७५. यहाँ प्रज्ञावान् भिक्षु के लिये ये गुण सर्वप्रथम आवश्यक हैं—इन्द्रियसंयम, सन्तोष एवं प्रातिमोक्ष में संयम॥

मित्ते भजस्सु कल्याणे, सुद्धाजीवे अतन्दिते।
पटिसन्थारवुत्त्यस्स, आचारकुसलो सिया।
ततो पामोज्जबहुलो, दुक्खस्सन्तं करिस्सति॥ ३७६॥

भज कल्याणमित्राणि, शुद्धाजीवानतन्द्रितान्।
प्रतिसंस्तारवृत्तिः स्याः, आचारकुशलो भवेः॥
ततः प्रामोद्यबहुलो दुःखस्यान्तं करिष्यसि॥ ३७६॥

३७६. तूँ उद्योगी एवं शुद्ध आजीविका वाले कल्याणमित्रों की सङ्गति कर। तथा आगत सज्जन का स्वागत सत्कार एवं सेवावृत्ति (पटिसन्थार) में लगा रह। ऐसे मैत्रीपूर्ण व्यवहार में कुशलता प्राप्त कर। तभी तूँ अपने लौकिक दुःखों का अन्त कर दिव्य आनन्द प्राप्त कर सकेगा॥

८. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

वस्सिका विय पुप्फानि, मद्दवानि पमुञ्चति।
एवं रागं च दोसं च, विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो॥ ३७७॥

वर्षिका इव पुष्पाणि, मृदूनि खलु मुञ्चति।
एवं रागं च द्वेषं च, विप्रमुञ्चत भिक्षवः॥ ३७७॥

३७७. जैसे चमेली लता के फूल म्लान हो (मुर्झा) कर (शाखाओं से टूट कर) गिर जाते हैं; उसी तरह, भिक्षुओ! तुम लोगों को भी स्वचित्त को राग एवं द्वेष से मुक्त कर लेना चाहिये॥

९. शान्तकाय स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

सन्तकायो सन्तवाचो, सन्तवा सुसमाहितो।
वन्तलोकामिसो भिक्खु, उपसन्तो ति वुच्चति॥ ३७८॥

शान्तवाक् शान्तकायश्च, शान्तचित्तः समाहितः।
वान्तलोकामिषो भिक्षुः, उपशान्तो हि कथ्यते॥ ३७८॥

३७८. उस भिक्षु को पूर्णतः शान्त कहा जा सकता है जो शारीरिक तथा मानसिक चेष्टाओं से शान्त होता है, जो शान्तिमय समाहितचित्त वाला है तथा जिसने सांसारिक प्रलोभनों का त्याग (नमन) कर दिया है॥

१०. नङ्गुलकुल स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

अत्तना चोदयत्तानं, पटिमंसेथ अत्तना।
सो अत्तगुत्तो सतिमा, सुखं भिक्खु विहाहिसि॥ ३७९॥

चोदयेदात्मनात्मानं, विमर्शेदात्मना स्वयम्।
स्मृतिमान् आत्मगुप्तश्च, सुखेन विहरिष्यति॥ ३७९॥

३७९. स्वयं को स्व द्वारा ही प्रेरित करो। स्वयं को स्व द्वारा ही आश्वस्त करो। इस प्रकार स्व द्वारा सुरक्षित हे स्मृतिमान् भिक्षु! तुम सुखपूर्वक साधना कर पाओगे॥

११. वल्कली स्थविर भिक्षु को : : राजगृह के वेणुवन में

अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो गति[१]।
तस्मा संयमयत्तानं, अस्सं भद्रं व वाणिजो॥ ३८०॥

आत्मा हि आत्मनो नाथः, को हि नाथः परो भवेत्।
तस्मात् संयमयात्मानं, भद्रमश्वं यथा वणिक्॥ ३८०॥

३८०. स्वयं आत्मा ही आत्मा का स्वामी है। आत्मा ही आत्मा की गति (शरणस्थल) है। अतः जैसे कोई व्यापारी अपने सुशिक्षित अश्व को संयत रखता है उसी प्रकार तुम भी अपनी आत्मा को संयत रखो॥

पामोज्जबहुलो भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं, सङ्खारूपसमं सुखं॥ ३८१॥

प्रामोद्यबहुलो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम्॥ ३८१॥

---

१. यहाँ अट्ठकथा में 'को हि नाथो परो सिया'—यह पाठ अधिक है।

३८१. जो भिक्षु (धर्मश्रवण कर) अत्यधिक हर्षयुक्त होता है, जो बुद्धोपदेश में श्रद्धा रखता है, वह शान्त, संस्कारों का उपशमन करने वाला सुखकारी पद (निर्वाण) प्राप्त कर लेता है॥

१२. सुमन श्रामणेर को : : श्रावस्ती के पूर्वाराम में

योहवे दहरो भिक्खु, युञ्जति बुद्धसासने।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥ ३८२॥

भिक्खुवग्गो निट्ठितो॥

यो ह वै दहरो भिक्षुः, युनक्ति बुद्धशासने।
प्रभासयतीमं लोकम्, अभ्रान्मुक्तो यथा शशी॥ ३८२॥

३८२. जो भिक्षु अपनी अल्प (छोटी) आयु में ही भगवान् बुद्ध के उपदेशों को हृदयङ्गम कर लेता है, वह इस संसार में अपना प्रिय आध्यात्मिक ज्ञानप्रकाश उसी तरह फैला देता है, जैसे मेघयुक्त चन्द्रमा आकाश में प्रकाशित होता है॥

पचीसवाँ भिक्षुवर्ग सम्पन्न॥

२६. ब्राह्मणवग्गो छब्बीसतिमो

२६. ब्राह्मणवर्ग छब्बीसवाँ

१. किसी श्रद्धालु ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

छिन्द सोतं परक्कम्म, कामे पनुद ब्राह्मण।
सङ्खारानं खयं ञत्वा, अकतञ्ञूसि ब्राह्मण॥ ३८३॥

छिन्धि स्रोतः पराक्रम्य, कामान् प्रणुद ब्राह्मण।
संस्काराणां क्षयं ज्ञात्वा, अकृतज्ञोऽसि ब्राह्मण॥ ३८३॥

३८३. हे भिक्षु! तूँ प्रयास कर अपने इस सांसारिक तृष्णास्रोत को छिन्न भिन्न कर डाल। हे क्षीणाश्रव! संस्कारों का विनाश जान कर तूँ अकृत (निर्वाण) का ज्ञाता हो जा॥

२. बहुत से भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

यदा द्वयेसु धम्मेसु, पारगू होति ब्राह्मणो।
अथस्स सब्बे संयोगा, अत्थं गच्छन्ति जानतो॥ ३८४॥

यदा धर्मद्वये ह्यस्मिन्, विप्रो भवति पारगः।
अथास्य सर्वे संयोगाः, अस्तं गच्छन्ति जानतः॥ ३८४॥

३८४. जब कोई क्षीणाश्रव भिक्षु (=ब्राह्मण) शमथ एवं विपश्यना—इन दो धर्मों में पारगामी हो जाता है, तब इस ज्ञानवान् साधक के सभी सांसारिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं॥

३. पापी मार को : : श्रावस्ती, जेतवन में

यस्स पारं अपारं वा, पारापारं न विज्जति।
वीतद्दरं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३८५॥

यस्य पारमपारं वा, पारापारं न विद्यते।
वीतदरं विसंयुक्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३८५॥

३८५. जिसके लिये न इस पार (किनारे) का महत्त्व रह गया है, न उस पार का, या पार एवं अपार—दोनों का ही कोई महत्त्व नहीं रह गया है; ऐसे निर्भय (वीतदर) एवं सांसारिक बन्धनों से मुक्त, वीतराग तथा क्षीणाश्रव भिक्षु को ही 'ब्राह्मण' कहते हैं॥

४. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

झायिं विरजमासीनं, कतकिच्चमनासवं।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३८६॥

विरजं ध्यायिनमासीनं, कृतकृत्यमनाश्रवम्।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३८६॥

३८६. जो ध्यायी (ध्यानभावना करने वाला) है, जो विरज (रजोगुणरहित) है, जो आसीन (स्थिर आसन वाला) है, जो कृतकृत्य (अपने सभी कृत्यों को पूर्ण कर चुका) है, जो अनाश्रव (आश्रव=चित्तविकार से रहित) है, जो उत्तम (श्रेष्ठ) अर्थ (निर्वाण) को प्राप्त कर चुका है, ऐसे साधक पुरुष को ही मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

५. आनन्द स्थविर को : : मृगारमातृप्रासाद श्रावस्ती में

दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिमाभाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायी तपति ब्राह्मणो।
अथ सब्बमहोरत्तिं, बुद्धो तपति तेजसा॥ ३८७॥

दिवा तपति आदित्यः, रात्रिमाभाति चन्द्रमाः।
क्षत्रियस्तपति सन्नद्धः, ध्यायी तपति ब्राह्मणः॥
अथ सर्वमहोरात्रं, बुद्धस्तपति तेजसा॥ ३८७॥

३८७. सूर्य दिन में शोभित होता है, तथा चन्द्रमा रात्रि में। क्षत्रिय युद्ध में जाने के लिये कवचबद्ध होता हुआ ही शोभित होता है। क्षीणाश्रव भिक्षु ध्यान (समाधि) निष्ठ होने पर सुन्दर लगता है; परन्तु भगवान् बुद्ध अपने अलौकिक तेज से सदा देदीप्यमान रहते हैं॥

६. किसी ब्राह्मण प्रव्रजित को : : श्रावस्ती के जेतवन में

बाहितपापो ति ब्राह्मणो, समचरियो समणो ति वुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं, तस्मा पब्बजितो ति वुच्चति॥ ३८८॥

बाहितपापो ब्राह्मणः, श्रमणः समचर्यया।
मलं नाशयति स्वस्य, प्रव्रजितः स उच्यते॥ ३८८॥

३८८. जिसने पापों को वाहित (नष्ट) कर दिया है, वह 'ब्राह्मण' है। जो समत्व का आचरण करता है वह मेरी दृष्टि में 'श्रमण' है। तथा जो अपने चित्तविकारों को नष्ट कर देता है वह 'प्रव्रजित' है॥

७. सारिपुत्र स्थविर को लक्ष्य कर : : श्रावस्ती के जेतवन में

न ब्राह्मणस्स पहरेय्य, नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो।
धी ब्राह्मणहन्तारं, ततो धी यस्स मुञ्चति॥ ३८९॥

ब्राह्मणं प्रहरेन्नायं, नास्मिन् मुञ्चेद्धि ब्राह्मणः।
धिग् ब्राह्मणस्य हन्तारं, धिक् तं यं प्रहरिष्यति॥ ३८९॥

३८९. कोई ब्राह्मण किसी अन्य ब्राह्मण पर प्रहार न करे। तथा न उस प्रहारकर्ता पर ही कोई प्रहार करे। धिक्कार है उसको जो किसी ब्राह्मण पर प्रहार करता है, साथ ही उसे भी धिक्कार है जो उस प्रहारकर्ता पर हाथ छोड़ता (प्रहार करता) है॥

न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो, यदा निसेधो मनसो पियेहि।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति, ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं॥ ३९०॥

न ब्राह्मणस्यैतदनल्पश्रेयः, यदा निषेधो मनसा प्रियेभ्यः।
यतो यतो हिंस्रमनो निवर्तते, ततस्ततः शाम्यति दुःखमेतत्॥ ३९०॥

३९०. ब्राह्मण के लिये यह कुछ कम श्रेयस्कर नहीं है कि वह प्रिय वस्तुओं की ओर से अपना मन हटा लेता है; क्योंकि ऐसा देखा गया है कि जहाँ जहाँ से साधक अपना हिंस्र मन हटा लेता है वहाँ वहाँ से उसका दुःख भी शान्त होता रहता है॥

८. महाप्रजापति गौतमी को : : श्रावस्ती, जेतवन में

यस्स कायेन वाचाय, मनसा नत्थि दुक्कटं।
संवुतं तीहि ठानेहि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९१॥

यस्य कायेन वाचा च, मनसा नास्ति दुष्कृतम्।
स्थानत्रयेण संवृतं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९१॥

३९१. जिस साधक के काय, वाणी एवं मन से कोई दुष्कृत नहीं हो रहा है वह तीनों स्थानों (काय, वाक् एवं मन) से संयत (संवृत) है। उसी को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

९. सारिपुत्र स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

यम्हा धम्मं विजानेय्य, सम्मासम्बुद्धदेसितं।

सक्कच्चं तं नमस्सेय्य, अग्गिहुत्तं व ब्राह्मणो॥ ३९२॥

यस्माद्धर्मं विजानीयात्, सम्यक्सम्बुद्धदेशितम्।

सत्कृत्य तं नमेन्नित्यमग्निहोत्रं यथा द्विजः॥ ३९२॥

३९२. जिस (आचार्य) से हम सम्यक्सम्बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म का श्रवण करें, उसकी सम्मानपूर्वक उसी तरह पूजा करनी चाहिये, जैसे कोई ब्राह्मण अग्निहोत्र की पूजा किया करता है॥

१०. किसी जटिल ब्राह्मण को : : श्रावस्ती के जेतवन में

न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो।

यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो॥ ३९३॥

न जटाभिर्न गोत्रेण, न वै जात्यास्ति ब्राह्मणः।

यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च, स शुचिः, स च ब्राह्मणः॥ ३९३॥

३९३. न जटा बढ़ा लेने से, न गोत्र या जाति से ही कोई ब्राह्मण हो जाता है; परन्तु जिसने सत्य एवं धर्म का साक्षात्कार कर लिया है, मैं उसी को सच्चा 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

११. कुहक (ढोंगी) ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिनसाटिया।

अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि॥ ३९४॥

किं ते जटाभिर्दुर्बुद्धे! वल्कलेनाजिनेन किम्!

आभ्यन्तरं ते गहनं, परिमार्जयसि बाह्यतः॥ ३९४॥

३९४. हे दुर्बुद्धे! तुझे इस जटा एवं अजिन (चर्म) धारण का क्या लाभ मिल रहा है! क्योंकि तेरा मन तो गम्भीर पापों से भरा पड़ा है। केवल बाहर से ही तूँ स्वच्छता का ढोंग दिखा रहा है॥

१२. कृशा गौतमी को : : राजगृह, गृध्रकूट पर्वत पर

पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं।

एकं वनस्मिं झायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९५॥

पांशुकूलधरं जन्तुं, कृशं धमनिश्रन्थतम्।

एकं वने हि ध्यायन्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९५॥

३९५. जो फटे पुराने वस्त्रों को धारण करता (पांशुकूलधर) है, जो शरीर से कृश है, जिसकी रक्तवाहिनी धमनियाँ (दुर्बलता के कारण) दूर से ही दिखायी देती हैं, जो वन में एकाकी ध्यानमग्न रहता है, मैं उसी को 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

१३. एक ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि, योनिजं मत्तिसम्भवं।

भोवादि नाम सो होति, सचे होति सकिञ्चनो।

अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९६॥
न चाहं ब्राह्मणं वच्मि, योनिजं मातृसम्भवम्।
स हि भवति भोवादी, स वै अस्ति सकिञ्चनः॥
अकिञ्चनमनादानं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९६॥

३९६. केवल ब्राह्मणयोनि वाली माता से उत्पन्न किसी मनुष्य को मैं ब्राह्मण नहीं मानता; क्योंकि वह परिग्रही है, लोक में वह स्वयं या दूसरों को 'भो' शब्द से सम्बोधित करता कराता रहता है। हाँ, जो अकिञ्चन (अपरिग्रही) है या किसी से कुछ लेने की कभी इच्छा नहीं करता, ऐसे त्यागी को ही मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

१४. उग्रसेन श्रेष्ठिपुत्र को : : श्रावस्ती, जेतवन में

सब्बसंयोजनं छेत्वा, यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९७॥
सर्वसंयोजनं छित्त्वा, यो वै न परित्रस्यति।
सङ्गातिगं विसंयुक्तम्, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९७॥

३९७. सभी प्रकार के सांसारिक बन्धनों (संयोजनों) को काट कर जो तृष्णा से भयभीत (त्रस्त) नहीं होता, जो विषयों की सङ्गति से विमुक्त हो चुका है, जो सांसारिक पदार्थों में अनासक्त है, मैं उसी को 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

१५. दो ब्राह्मणों को : : श्रावस्ती के जेतवन में

छेत्वा नद्धिं वरत्तं च, सन्दानं सहनुक्कमं।
उक्खित्तपलिघं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९८॥
छित्त्वा नध्रीं वरत्रां च, सन्दानं सहनुक्रमम्।
उत्क्षिप्तपरिघं बुद्धं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९८॥

३९८. जिस साधक ने अपनी आध्यात्मिक नध्री (क्रोध) तथा वरत्रा (तृष्णा), सन्दान (बन्धन) एवं हनुक्रम (मुँह पर बाँधने का पट्टा) काट दिया है तथा संसार की शृङ्खला को तोड़ कर फेंक दिया है, ऐसे प्रबुद्ध (ज्ञानी) को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

१६. आक्रोशक भारद्वाज को : : राजगृह वेणुवन में

अक्कोसं वधबन्धं च, अदुट्ठो यो तितिक्खति।
खन्तीबलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९९॥
आक्रोशं वधबन्धं च, अद्विष्टो यस्तितिक्षति।
क्षान्तिबलं बलानीकं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९९॥

३९९. जो मनुष्य अपना चित्त दूषित किये विना, दुर्जनों के अपशब्द, मार पीट या किसी प्रकार का बन्धन—सब कुछ सहन कर लेता है, क्षमा ही जिसका बल है, तथा वह (क्षमा) ही जिसकी युद्ध में लड़ने वाली सेना है, उसको मैं सच्चा 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

१७. सारिपुत्र स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

अक्कोधनं वतवन्तं, सीलवन्तं अनुस्सदं।
दन्तं अन्तिमसारीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४००॥

अक्रोधनं व्रतवन्तं, शीलवन्तमनुत्सदम्।
दान्तमन्तिमशरीरं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४००॥

४००. जो साधक किसी पर भी क्रोध नहीं करता, धार्मिक शील (सदाचारों) एवं व्रतों से सम्पन्न तथा सदा वीततृष्ण रहता है, इन्द्रियों पर संयम रखता है, जिसका यह शरीर (जन्म) इस लोक में अन्तिम है उसी को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

१८. उत्पलवर्णा स्थविरा को : : श्रावस्ती, जेतवन में

वारि पोक्खरपत्ते व, आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिम्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०१॥

जलं यथा पद्मपत्रे, आराग्रे सर्षपो यथा।
यो न लिम्पति कामेषु, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०१॥

४०१. जिस प्रकार लोक में कमलपत्र पर जल की स्थिति नहीं देखी जाती, या आरायन्त्र के अग्रभाग पर सरसों का दाना (बीज) नहीं ठहर पाता, वहाँ से गिर जाता है; उसी प्रकार जो क्षीणाश्रव भिक्षु साधक कामनाओं में लिप्त नहीं होता, उसी को मैं वस्तुतः 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

१९. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

यो दुक्खस्स पजानाति, इधेव खयमत्तनो।
पन्नभारं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०२॥

यो दुःखस्य प्रजानाति, इहैव क्षयमात्मनः।
पन्नभारं विसंयुक्तम्, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०२॥

४०२. जो अपने दुःखक्षय को इसी जन्म में जान लेता है, जिसने अपने लौकिक भार को अपने कन्धों से उतार कर फेंक दिया है, तथा जो संसार में निरासक्त हो चुका है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

२०. क्षेमा भिक्षुणी को : : राजगृह गृध्रकूट पर्वत पर

गम्भीरपञ्ञं मेधाविं, मग्गामग्गस्स कोविदं।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०३॥

मेधाविनं च गम्भीरं, मार्गामार्गस्य कोविदम्।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०३॥

४०३. जो गम्भीर प्रज्ञावान् है, मेधावी है, मार्ग एवं अमार्ग का ज्ञाता है, तथा जिसने उत्तम अर्थ (निर्वाण) को प्राप्त कर लिया है, उसको मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

२१. प्राग्भारवासितिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

असंसट्ठं गहट्ठेहि, अनागारेहि चूभयं।
अनोकसारिमप्पिच्छं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०४॥
असंसृष्टं गृहस्थैर्वा, प्रव्रजितैस्तथोभयैः।
अनोकसारमल्पेच्छं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०४॥

४०४. गृहस्थ एवं प्रव्रजित—दोनों से ही असम्पृक्त रहने वाला साधक एकान्तवास तथा सन्तोषवृत्ति को धारण किये रहता है। अत: मैं ऐसे साधक को 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

२२. किसी भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०५॥
दण्डं निधाय भूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च।
यो न हन्ति न घातयति, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०५॥

४०५. जो तृष्णा के त्रास से त्रस्त या उसके अभाव से अत्रस्त किसी भी प्राणी पर दण्ड (शस्त्र) का प्रयोग नहीं करता तथा जो न किसी को मारता है, न किसी को मारने के लिये प्रेरित करता है, उसको मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

२३. चार श्रामणेरों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

अविरुद्धं विरुद्धेसु, अत्तदण्डेसु निब्बुतं।
सादानेसु अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०६॥
अविरुद्धं विरुद्धेषु, आत्मदण्डेषु निर्वृतम्।
सादानेषु अनादानं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०६॥

४०६. जो विरोधी (वैरी) के साथ भी अपना विरोध (वैर) प्रकट नहीं करता, जो दण्डधारियों के मध्य दण्ड (शस्त्र) नहीं उठाता, तथा संग्रह करने वालों के मध्य जो संग्रही नहीं है, वही मेरी दृष्टि में सच्चा 'ब्राह्मण' है॥

२४. महापन्थक स्थविर को : : राजगृह वेणुवन में

यस्स रागो च दोसो च, मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०७॥
येन रागश्च द्वेषश्च, मानो म्रक्षश्च पातितः।
सर्षप इव आराग्रात्, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०७॥

४०७. जिस साधक भिक्षु का, साधना करते करते, राग द्वेष मान एवं म्रक्ष (दूसरे के गुणों का तिरस्कार करना) उसी तरह विनष्ट हो चुके हैं, जैसे आरायन्त्र के अग्रभाग से सरसों का दाना छिटक जाया करता है, ऐसे साधक को मैं वास्तविक 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

२५. पिलिन्दवत्स स्थविर के विषय में : : राजगृह, वेणुवन में

अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चमुदीरये।
याय नाभिसजे कञ्चि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०८॥

अकर्कशां ज्ञापनीं च, गिरं सत्यामुदीरयेत्।
यथा नाभिष्वजेत् किञ्चित्, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०८॥

४०८. जो आकर्षक (अपनी ओर आकृष्ट करने वाली), ज्ञानवर्धक एवं सत्य वाणी बोलता है तथा जिसे सुनकर किसी को पीड़ा नहीं होती, ऐसे साधक को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

२६. किसी स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

योध दीघं व रस्सं वा, अणुं थूलं सुभासुभं।
लोके अदिन्नं नादियति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०९॥

इह यो दीर्घं ह्रस्वं वा, अणु स्थूलं शुभाशुभम्।
लोके ह्यदत्तं नादत्ते, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०९॥

४०९. जो इस लोक में, दूसरे द्वारा न दी हुई वस्तु को, फिर भले ही वह छोटी हो या बड़ी, पतली हो या मोटी, शुभ हो या अशुभ, अपना नहीं बनाता, उसी को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

२७. सारिपुत्र स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

आसा यस्स न विज्जन्ति, अस्मिं लोके परम्हि च।
निरासासं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१०॥

आशा यस्य न विद्यन्ते, अस्मिन् लोके परत्र च।
निराशयं विसंयुक्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१०॥

४१०. जिस साधक की इस लोक या परलोक विषयक सभी आशाएँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे आशारहित एवं सांसारिक विषयों में अनासक्त साधक को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

२८. महामौद्गल्यायन स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

यस्सालया न विज्जन्ति, अञ्ञाय अकथङ्कथी।
अमतोगधमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४११॥

यस्यालया न विद्यन्ते, आज्ञाय अकथङ्कथी।
अगाधममृतं प्राप्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४११॥

४११. जिस साधक की किसी वस्तु में आसक्ति नहीं रह गयी है, जो तत्त्वज्ञानी होकर नि:संशय (असन्दिग्ध) हो चुका है, तथा जो अमृतत्व (निर्वाण) की गम्भीरता को प्राप्त कर चुका है, उस साधक को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

२९. रेवत स्थविर को : : श्रावस्ती, पूर्वाराम में

योध पुञ्ञं च पापं च, उभो सङ्गमुपच्चगा।
असोकं विरजं सुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१२॥
पुण्यं य इह पापं च, उभयोः सङ्गमत्यगात्।
अशोकं विरजं बुद्धं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१२॥

४१२. जो साधक पुण्य एवं पाप—दोनों के सङ्ग से मुक्त हो चुका है जो वीतशोक, रजोगुणविहीन एवं विकारों के राहित्य के कारण शुद्ध (स्वच्छ) है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

३०. चन्द्राभ स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

चन्दं व विमलं सुद्धं, विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१३॥
विमलं चन्द्रवच्छुद्धं, विप्रसन्नमनाविलम्।
नन्दीभवपरिक्षीणं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१३॥

४१३. जो साधक चन्द्रमा के समान निर्मल, शुद्ध, प्रसन्न एवं निष्कलङ्क है, तथा जिसकी सब जन्मों की तृष्णाएँ नष्ट हो चुकी हैं, उसी साधक को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

३१. सीवलि स्थविर को : : कुण्डकोलिय के कुण्डधान वन में

यो इमं पलिपथं दुग्गं, संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारगतो झायी, अनेजो अकथङ्कथी।
अनुपादाय निब्बुतो, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१४॥
इमं प्रतिपथं दुर्गं संसारं मोहमत्यगात्।
तीर्णः पारं गतो ध्यायी अकम्प्यश्चाकथङ्कथी।
अनुपादाय निर्वृत्तो, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१४॥

४१४. जिस साधक ने इस दुर्गम संसार के मोहरूप प्रतिगामी मार्ग को पार कर लिया है, इस पार (संसार) से उस पार (निर्वाण) तक पहुँच गया है, जो ध्यान में निरन्तर रत है, निष्पाप एवं निःसंशय हो चुका है, तथा अनासक्त एवं निर्वृत हो चुका है, ऐसे साधक को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

३२. सुन्दरसमुद्र स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

योध कामे पहन्त्वान, अनागारो परिब्बजे।
कामभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१५॥
प्रहाय कामान् यः सर्वान् अनागारः परिव्रजेत्।
कामभवपरिक्षीणं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१५॥

४१५. जो साधक यहाँ कामनाओं का परित्याग कर, घर छोड़ कर प्रव्रजित हो जाता है, जिसमें जन्म लेने की कामना क्षीण हो चुकी है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

३३. जटिल स्थविर को : : राजगृह, वेणुवन में

३४. जोतिक स्थविर को भी : : राजगृह के वेणुवन में

योध तण्हं पहन्त्वान, अनागारो परिब्बजे।
तण्हाभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१६॥

प्रहाय तृष्णा यः सर्वाः, अनागारः परिव्रजेत्।
तृष्णाभवपरिक्षीणं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥
प्रहाय तृष्णा यः सर्वाः, अनागारः परिव्रजेत्।
तृष्णाभवपरिक्षीणं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१६॥

४१६. जो साधक यहाँ तृष्णाओं का परित्याग कर, घर छोड़ कर प्रव्रजित हो जाता है, जिसमें यहाँ (इस लोक में) पुनः जन्म लेने की तृष्णा सर्वथा क्षीण हो चुकी है, ऐसे साधक को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ (दोनों स्थविरों को एक ही गाथा से उपदेश किया है।)

३५. नटपुत्रक स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

हित्वा मानुसकं योगं, दिब्बं योगं उपच्चगा।
सब्बयोगविसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१७॥

हित्त्वा मानुषकं योगं, दिव्यं योगमुपात्यगात्।
सर्वयोगविसंयुक्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१७॥

४१७. जो साधक मानवलोकसम्बन्धी वस्तुओं की आसक्ति को त्यागता हुआ स्वर्गसम्बन्धी वस्तुओं में भी आसक्ति त्याग चुका है, तथा जो सभी सांसारिक संयोग एवं वियोग की आसक्तियों से दूर हो चुका है उसी को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

३६. उसी नटपुत्रक स्थविर के विषय में : : राजगृह के वेणुवन में

हित्वा रतिं च अरतिं च, सीतिभूतं निरूपधिं।
सब्बलोकाभिभुं वीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१८॥

हित्त्वा रत्यरती चोभे, शीतीभूतं निरुपधिम्।
सर्वलोकाभिभूं वीरं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१८॥

४१८. जो साधक पाँच लौकिक कामगुणों में रति (अनुराग) तथा अरति (वैराग्य)—दोनों का त्याग कर शान्तवृत्ति हो चुका है, जो क्लेशरहित है, जो सब लोकों को परास्त करने वाला वीर है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

३७. वङ्गीश स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

चुतिं यो वेदि सत्तानं, उपपत्तिं च सब्बसो।
असत्तं सुगतं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१९॥

च्युतिं यो वेद सत्त्वानामुत्पत्तिं चैव सर्वशः।
असक्तं सुगतं बुद्धं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१९॥

४१९. जिस साधक को प्राणियों के देहपात (च्युति) एवं उत्पत्ति (जन्म) का भले प्रकार से ज्ञान है, जो संसार में निरासक्त, सुगत एवं बुद्ध है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

यस्स गतिं न जानन्ति, देवा गन्धब्बमानुसा।
खीणासवं अरहन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४२०॥

गतिं यस्य न जानन्ति, देव–गन्धर्व–मानवाः।
क्षीणाश्रवं च अर्हन्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४२०॥

४२०. जिसकी गति को देव, मनुष्य एवं गन्धर्व—इनमें से कोई भी नहीं जानता, जिसके आश्रव क्षीण हो चुके हैं तथा जो अर्हत्त्व प्राप्त कर चुका है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

३८. धर्मदिन्ना भिक्षुणी को : : राजगृह के वेणुवन में

यस्स पुरे च पच्छा च, मज्झे नत्थि च किञ्चनं।
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४२१॥

पुरो यस्य च पश्चाच्च, मध्ये नास्ति च किञ्चन।
अकिञ्चनमनादानं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४२१॥

४२१. जिसको अतीत काल, भविष्यत्काल तथा वर्तमान काल में किसी वस्तु में आसक्ति नहीं है; जो अकिञ्चन है, अपरिग्रही है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

३९. अङ्गुलिमाल स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

उसभं पवरं वीरं, महेसिं विजिताविनं।
अनेजं न्हातकं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४२२॥

ऋषभं प्रवरं वीरं, महर्षिं जयकारकम्।
अनेजं स्नातकं बुद्धं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४२२॥

४२२. जो साधक मनुष्यों में श्रेष्ठ है, अग्र (प्रवर) है, वीर है, महर्षि (उदारचेता) है, वासनाओं पर विजय पा चुका है, निष्कंप, निष्कलङ्क, स्नातक एवं ज्ञानी है, उसको मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

४०. देवहित ब्राह्मण को उत्तर : : श्रावस्ती के जेतवन में

पुब्बेनिवासं यो वेदि, सग्गापायं च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो, अभिञ्ञावोसितो मुनि।
सब्बवोसितवोसानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४२३॥

ब्राह्मणवग्गो निट्ठितो॥

पूर्वनिवासं यो वेद, स्वर्गापायं च पश्यति।

अथ जातिक्षयं प्राप्तो ऽभिज्ञाव्यवसितो मुनिः।
सर्वव्यवसितान्तो यो, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४२३॥

४२३. जो साधक अपने पूर्वजन्म की घटनाओं को प्रत्यक्षवत् देखता है, जो स्वर्ग एवं नरक का भी इन्द्रियजन्य ज्ञान रखने की सामर्थ्य रखता है, जिसकी भावी जन्मपरम्परा क्षीण हो चुकी है, तथा जो अभिज्ञा (विशिष्ट ज्ञान) में परायण है, ऐसे पूर्ण ज्ञान में पूर्णता अधिगत किये हुए मुनि को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

ब्राह्मणवर्ग छब्बीसवाँ सम्पन्न॥

(क) धम्मपद में पठित वर्गों की सूची

यमकप्पमादो चित्तं, पुप्फं बालेन पण्डितो।
अरहन्तो सहस्सं च, पापं दण्डेन ते दस॥

१. यमक, २. अप्रमाद, ३. चित्त, ४. पुष्प, ५. बाल, ६. पण्डित, ७. अर्हत्, ८. सहस्र, ९. पाप एवं १०. दण्डवर्ग॥

जरा अत्ता च लोको च, बुद्धो सुखं पियेन च।
कोधो मलं च धम्मट्ठो, मग्गवग्गेन वीसति॥

११. जरा, १२. आत्मा, १३. लोक, १४. बुद्ध, १५. सुख, १६. प्रिय, १७. क्रोध, १८. मल, १९. धर्मस्थ, एवं २०. मार्गवर्ग॥

पकिण्णं निरयो नागो, तण्हा भिक्खु च ब्राह्मणो।
एते छब्बीसति वग्गा, देसितादिच्चबन्धुना॥

२१. प्रकीर्ण, २२. निरय, २३. नाग, २४. तृष्णा, २५. भिक्षु एवं २६. ब्राह्मणवर्ग—इस प्रकार ये २६ (छब्बीस) वर्ग भगवान् बुद्ध द्वारा इस **धर्मपद** में उपदिष्ट हुए हैं॥

(ख) धम्मपद में वर्गानुसार पठित गाथाओं की सूची

यमके वीसति गाथा, अप्पमादम्हि द्वादस।
एकादस चित्तवग्गे, पुप्फवग्गम्हि सोळस॥

१. यमकवर्ग में	२० गाथा	२. अप्रमादवर्ग में	१२ गाथा
३. चित्तवर्ग में	११ गाथा	४. पुष्पवर्ग में	१६ गाथा

बाले च सोळस गाथा, पण्डितम्हि चतुद्दस।
अरहन्ते दस गाथा, सहस्से होन्ति सोळस॥

५. बालवर्ग में	१६ गाथा	६. पण्डितवर्ग में	१४ गाथा
७. अर्हद्वर्ग में	१० गाथा	८. सहस्रवर्ग में	१६ गाथा

तेरस पापवग्गम्हि, दण्डम्हि दस सत्त च।
एकादस जरावग्गे, अत्तवग्गम्हि ता दस॥

९. पापवर्ग में	१३ गाथा	१०. दण्डवर्ग में	१७ गाथा
११. जरावर्ग में	११ गाथा	१२. आत्मवर्ग में	१० गाथा

द्वादस लोकवग्गम्हि, बुद्धवग्गम्हि ठारस।
सुखे च पियवग्गे च, गाथायो होन्ति द्वादस॥

१३. लोकवर्ग में	१२ गाथा	१४. बुद्धवर्ग में	१८ गाथा
१५. सुखवर्ग में	१२ गाथा	१६. प्रियवर्ग में	१२ गाथा

चुद्दस कोधवग्गम्हि, मलवग्गेकवीसति।
सत्तरस च धम्मट्ठे, मग्गवग्गे सत्तरस॥

१७. क्रोधवर्ग में	१४ गाथा	१८. मलवर्ग में	२१ गाथा
१९. धर्मस्थवर्ग में	१७ गाथा	२०. मार्गवर्ग में	१७ गाथा

पकिण्णे सोळस गाथा, निरये नागे च चुद्दस।
छब्बीस तण्हावग्गम्हि, तेवीस भिक्खुवग्गिका॥
एकतालीसगाथायो, ब्राह्मणे वग्गमुत्तमे।

२१. प्रकीर्णवर्ग में	१६ गाथा	२२. निरयवर्ग में	१४ गाथा
२३. नागवर्ग में	१४ गाथा	२४. तृष्णावर्ग में	२६ गाथा
२५. भिक्षुवर्ग में	२३ गाथा	२६. ब्राह्मणवर्ग में	४१ गाथा

गाथासतानि चत्तारि, तेवीस च पुनापरे।
धम्मपदे निपातम्हि, देसितादिच्चबन्धुना ति॥

इस प्रकार इस समस्त **धम्मपद** ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध ने ४२३ (चार सौ तेईस) गाथाएँ जिज्ञासुओं को देशना के रूप में कही हैं॥

॥ धम्मपदपालि सम्पूर्ण ॥

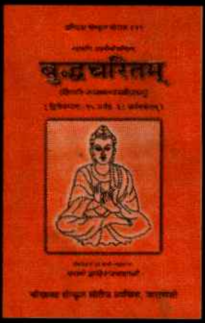
✿

धम्मपद में पठित गाथाओं की

अकारादिक्रम से सूची

✿

बुद्धचरितम्



बुद्धचरित एक महाकाव्य है; जिसमें महाकवि अश्वघोष ने अत्यधिक संयम के साथ भगवान् बुद्ध का समस्त जीवन वर्णित किया है। यह महाकाव्य, अपने मौलिक रूप में, २८ सर्गों में था; जैसा कि ईसा की सप्तम शताब्दि में चीनी यात्री इत्सिंग को भी चीनी अनुवाद में विदित था। तिब्बती अनुवाद में भी इसके इतने ही सर्ग हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि इस महाकाव्य के मौलिक संस्कृत रूप में भी इतने (२८) ही सर्ग रहे होंगे। इस अट्ठाईस सर्गों में से आज मूल संस्कृत भाषा में केवल चौदह (१४) सर्ग (के ३१वें श्लोक) तक ही उपलब्ध हैं और सुरक्षित हैं। प्रथम सर्ग के आरम्भ में सात श्लोक भी अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं।

इत्सिंग महोदय ने अपने यात्रावर्णन में लिखा है कि उनके समय में यह मनोरम काव्य भारतवर्ष के पाँचों भागों में तथा दक्षिणी समुद्र के तटवर्ती देशों में सर्वत्र श्रद्धा एवं तन्मयता के साथ पढ़ा-सुना एवं गाया जाता था। इस महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के जीवन का और उपदेशों का ही सर्वोत्तम वर्णन नहीं है, अपि तु महाकवि ने इसमें यथाप्रसङ्ग भारत की पौराणिक परम्पराओं के सम्बन्ध में अपने विश्वकोष के समान अगाध ज्ञान तथा प्राग्बुद्धकालिक दार्शनिक मतवादों, विशेषतः साङ्ख्यदर्शन के सम्बन्ध में भी अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया है।

युवान च्वांग ने अपने यात्रावर्णन में तत्कालीन विश्व को प्रभासित करने वाले चार सूर्यों का उल्लेख किया है; वे हैं—१. अश्वघोष, २. नागार्जुन, ३. कुमारलब्ध (कुमारलात) एवं ४. आर्यदेव। वास्तविकता भी यही है, एक विचारक विद्वान् के रूप में स्थविर अश्वघोष जैसे विरले ही महापुरुष हुए हैं। इनसे तुलना करने वाला विद्वान् सन्त भारतीय दर्शन एवं इतिहास में अन्य कोई सुगमता से मिलना अतिकठिन है। अस्तु।

प्रथम भाग - अजिल्द १००-००, सजिल्द १२५-००
द्वितीय भाग - अजिल्द १००-००, सजिल्द १२५-००

Also can be had from
Chowkhamba Krishnadas Academy
K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Near Golghar (Maidagin)
Post Box 1118, Varanasi-221 001 (India)
Phone : (0542) 2333458 (P.P.) & (0542) 2335020, 2334032
Fax : (0542) 2333458, e-mail : cssoffice@satyam.net.in
Web site : www.chowkhambaseries.com

ISBN : 81-7080-173-7 Price : Rs. 100.00